[2002]3 उम. नि. प. 233

बी. आर. कपूर

बनाम

तमिलनाडु राज्य और एक अन्य

21 सितम्बर, 2001

न्यायमूर्ति एस. पी. भरूचा, न्यायमूर्ति जी. बी. पटनायक, न्यायमूर्ति वाई. के. सभरवाल, न्यायमूर्ति रुमा पाल और न्यायमूर्ति ब्रजेश कुमार

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 164(1), (2) और (4), 163(1), 173, 191 और 177 [सपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 – धारा 8(3)] – गैर-विधायक की मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्ति के लिए पात्रता – किसी गैर-विधायक की मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्ति के लिए उसके पास अनुच्छेद 173 के अधीन अर्हताएं होनी चाहिएं और वह विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए अनुच्छेद 191 के अधीन निरर्हित नहीं

होना चाहिए – जब बहुमत दल द्वारा ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाने की ईप्सा की जाती है जो उपर्युक्त शर्तें पूरी नहीं करता, तब राज्यपाल को उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर देनी चाहिए और यदि राज्यपाल ऐसे किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त कर भी देता है तो उसके प्राधिकार को अधिकार-पृच्छा की कार्यवाहियों में चुनौती दी जा सकती है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 164(4), 159 और 163 – मुख्यमंत्री नियुक्त करने संबंधी राज्यपाल की शक्तियां – राज्यपाल संविधान के अधीन अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए संविधान और विधि के प्रतिकूल कुछ भी नहीं कर सकता और वह विधानमंडल के बहुमत द्वारा व्यक्त लोगों की इच्छा से आबद्ध नहीं है यदि ऐसी इच्छा ऐसे किसी व्यक्ति की नियुक्ति के पक्ष में हो जो विधानमंडल की सदस्यता का पात्र नहीं है, क्योंकि भारत का संविधान भारत के लोगों द्वारा अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 226, 32 और 164 – अधिकार-पृच्छा की रिट – राज्यपाल द्वारा किसी व्यक्ति की मुख्यमंत्री के रूप में की गई नियुक्ति को अपात्रता के आधार पर चुनौती देने संबंधी अधिकार-पृच्छा की कार्यवाहियां कायम रखी जा सकती हैं ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973(1974 का 2) – धारा 389 [सपठित लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 – धारा 8 और 10-क] – अपील न्यायालय की शक्ति – अपील न्यायालय केवल दंडादेश के निष्पादन को निलंबित कर सकता है न कि स्वयं दंडादेश को – दंडादेश को निलंबित करने वाले अपील न्यायालय के आदेश का अर्थान्वयन दंडादेश के मात्र निष्पादन को निलंबित करने के रूप में किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसे आदेश द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8(3) के अधीन किसी अभ्यर्थी पर अधिरोपित निरर्हता समाप्त नहीं हो जाएगी ।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951(1951 का 43) – धारा 8(3) – निरर्हता – निरर्हता आरंभ होने की तारीख – धारा 8(3) के अधीन निरर्हता विचारण न्यायालय द्वारा दोषसिद्धि की तारीख से आरंभ होगी न कि अपील न्यायालय द्वारा उसकी पुष्टि की तारीख से किन्तु यदि दंडादेश अधिरोपित करने की तारीख दोषसिद्धि से बाद की तारीख है तो निरर्हता दंडादेश अधिरोपित करने की तारीख से आरंभ होगी ।

साक्ष्य अधिनियम, 1872(1872 का 1) – धारा 101 और 114 – निर्दोषिता की उपधारणा – जब निचले न्यायालय द्वारा अभियुक्त को दोषसिद्ध करते हुए दंडादिष्ट कर दिया जाता है तो अभियुक्त के निर्दोष होने की उपधारणा समाप्त हो जाती है तथा इसमें अंतर्वलित दोषसिद्धि और दंडादेश अभियुक्त के विरुद्ध तब तक पूरी तरह प्रवर्तित होती है जब तक कि इसे अपील में अपास्त नहीं कर दिया जाता और दोषसिद्धि और दंडादेश से संबद्ध निरर्हता भी प्रवर्तित रहती है ।

द्वितीय प्रत्यर्थी वर्ष 1991 और 1996 के बीच तमिलनाडु राज्य की मुख्यमंत्री थी । उसे उस कार्यकाल की बाबत भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(1)(ग), धारा 13(1)(घ) और धारा 13(2) के साथ पठित भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख के अधीन दंडनीय अपराधों और भारतीय दंड संहिता की धारा 409 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया । उसे प्रथम मामले में तीन वर्ष का कठोर कारावास भुगतने और 10,000 रुपए के जुर्माने का संदाय करने तथा दूसरे मामले में दो वर्ष का कठोर कारावास भुगतने और 5000 रुपए के जुर्माने का संदाय करने के लिए दंडादिष्ट किया गया । दोनों मामलों में अधिरोपित जुर्माने का संदाय कर दिया गया । द्वितीय प्रत्यर्थी ने अपनी दोषसिद्धि के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलें फाइल कीं । अपीलें अभी लंबित हैं । उसके द्वारा दोनों अपीलों में आवेदन फाइल करने पर उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389(3) के अधीन कारावास के दंडादेशों को निलंबित कर दिया और प्रत्यर्थी सं. 2 को, उस आदेश में विनिर्दिष्ट निबंधनों और शर्तों पर जमानत पर छोड़ने का निदेश दिया । इसके पश्चात्, उसने दोनों दांडिक मामलों में दिए गए निर्णयों के प्रवर्तन को रोकने की ईप्सा करते हुए दोनों अपीलों में आवेदन फाइल किए । मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल

न्यायाधीश ने इन आवेदनों को खारिज कर दिया चूंकि दोष सिद्धियां, अन्य बातों के साथ-साथ भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(1)(ग) और धारा 13(1)(घ) के अधीन थीं । इन आदेशों को चुनौती नहीं दी गई थी । अप्रैल, 2001 में, द्वितीय प्रत्यर्थी ने तमिलनाडु विधानसभा के होने वाले साधारण निर्वाचन के संबंध में चार निर्वाचन-क्षेत्रों से नामनिर्देशन-पत्र फाइल किए । तीन नामनिर्देशन-पत्र, दो दांडिक मामलों में उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश के कारण लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8(3) के अधीन उसकी निरर्हता के कारण खारिज कर दिए गए। चतुर्थ नामनिर्देशन-पत्र इस कारण खारिज कर दिया गया कि उसने दो से अधिक स्थानों से नामनिर्देशन फाइल किए थे । खारिजी के आदेशों की शुद्धता को प्रश्नगत नहीं किया गया था । तमिलनाडु विधानसभा के निर्वाचन परिणाम में ए. आई. ए. डी. एम. की पार्टी, जिसने द्वितीय प्रत्यर्थी को अपने मुख्यमंत्री प्रत्याशी के रूप में प्रस्तुत किया था, बहुमत से विजई हुई । निर्वाचन-परिणामों के परिणामस्वरूप ए.आई. डी. एम. के. ने द्वितीय प्रत्यर्थी को अपनी नेता चुन लिया। द्वितीय प्रत्यर्थी को तमिलनाडु राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई । इन रिट याचिकाओं और अपील में यह दलील दी गई कि विधि के अनुसार द्वितीय प्रत्यर्थी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ नहीं दिलाई जा सकती थी और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकती थी । उन्होंने उसके विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की प्रकृति के निदेशों की ईप्सा की । रिट याचिका का तदनुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – संविधान के अनुच्छेद 164 के उप-अनुच्छेद (1) और उप-अनुच्छेद (2) के साथ पठित उप-अनुच्छेद (4) में आवश्यक रूप से विवक्षित अपेक्षा यह है कि ऐसा मंत्री जो विधानमंडल का सदस्य नहीं है, विधानमंडल में चुना जाना चाहिए और उसके द्वारा छह मास के भीतर विधानमंडल में स्थान पाने में असफल रहने पर वह मंत्री नहीं बना रहना चाहिए । उप-अनुच्छेद (4) की अपेक्षा ऐसी होने के कारण उससे यह परिणाम निकलता है कि उस दिन जिस व्यक्ति को मंत्री नियुक्त किया जाता है, यद्यपि वह विधानमंडल का सदस्य नहीं है, वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो विधानमंडल के निर्वाचन के लिए खड़ा हो सके और उप-अनुच्छेद (4) की अपेक्षा को पूरा कर सके । दूसरे शब्दों में, वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो संविधान(अनुच्छेद 173) में अंतर्विष्ट विधानमंडल की सदस्यता के लिए अर्हताएं पूरी करता हो और अपनी नियुक्ति की तारीख को उसके(अनुच्छेद 191) किसी उपबंध के कारण उस सदस्यता की ईप्सा करने से निरर्हित न हो । अनुच्छेद 164 के उप-अनुच्छेद (4) के उपबंध से ऐसी स्थिति की व्यवस्था अभिप्रेत है जहां राजनीतिक अत्यावश्यकता के कारण या किसी क्षेत्र में किसी विशेषज्ञ की सेवाएं लेने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को मंत्रिपरिषद् में शामिल करना अपेक्षित हो जो उस समय विधानमंडल का सदस्य न हो । यह बात एक अलंघ्य रुकावट नहीं होनी चाहिए कि वह विधानमंडल का सदस्य नहीं है । उप-अनुच्छेद (4) में मंत्री के रूप में नियुक्त किए गए गैर-विधायक को विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए छह मास का समय दिया गया है। अतः गैर-विधायक आवश्यक रूप से ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उस समय जब उसकी नियुक्ति की जाए, विधानमंडल की सदस्यता प्राप्त करने के लिए विवर्जित न हो; वह निश्चित रूप से ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो विधानमंडल का चुनाव लड़ने के लिए अर्हित हो और ऐसा करने के लिए निरर्हित न हो । उप-अनुच्छेद (4) का आशय किसी व्यक्ति को छह मास या उससे कम अवधि के लिए इस प्रकार मंत्रिपरिषद् में शामिल करना नहीं है जिससे कि यह महत्वपूर्ण बात न हो कि वह विधानमंडल का निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र है । यह निष्कर्ष निकालना अयुक्तियुक्त और असंगत होगा कि ऐसे किसी मंत्री के लिए, जो विधानमंडल का सदस्य है, यह अपेक्षित है कि वह अर्हता और निरर्हता संबंधी सांविधानिक मानकों को पूरा करे किन्तु जो मंत्री विधानमंडल का सदस्य नहीं है उससे ऐसी अपेक्षा नहीं है । तर्कसंगत रूप से ऐसे किसी मंत्री से, जो सदस्य नहीं है, यह प्रत्याशा है कि वह भी कम से कम उन्हीं मानकों को अवश्य पूरा करे, जो किसी सदस्य से अपेक्षित है । अतः किसी गैर-विधायक को अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री या मंत्री केवल तभी बनाया जा सकता है यदि उसके पास अनुच्छेद 173 द्वारा विहित विधानमंडल की सदस्यता के लिए अर्हताएं हों और उसे अनुच्छेद 191 में उपवर्णित निरर्हताओं के आधार पर उसकी सदस्यता से निरर्हित न किया गया हो ।(पैरा 21, 22, 23 और 30)

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389 के अधीन कोई अपील न्यायालय यह आदेश दे सकता है कि "उस दंडादेश या आदेश का निष्पादन, जिसके विरुद्ध अपील की गई है, निलंबित किया जाए......" दंडादेश को निलंबित करना

अपील न्यायालय की शक्ति के अंतर्गत नहीं आता; वह केवल अपील के निपटारा होने तक दंडादेश के निष्पादन को निलंबित कर सकता है । दंडादेश के निष्पादन के निलंबन से इस तथ्य में कोई परिवर्तन या प्रभाव नहीं पड़ता कि अपराधी को गंभीर अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है और उस पर दो वर्ष से अन्यून अवधि के कारावास का दंडादेश अधिरोपित किया गया है। अतः, दंडादेशों के निष्पादन के निलंबन से द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध निरर्हता समाप्त नहीं हो जाती । दंडादेश का निलंबन जैसा कि उसका मद्रास उच्च न्यायालय ने गलत रूप से कथन किया है, वस्तुतः द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपीलों का निपटारा होने तक दंडादेशों के निष्पादन का निलंबन था । इस तथ्य से उस पर अधिरोपित दोषसिद्धियों और दंडादेशों में कोई परिवर्तन नहीं होता या प्रभाव नहीं पड़ता कि उसने अपने विरुद्ध दंडादेशों के निष्पादन का निलंबन प्राप्त कर लिया और वह धारा 8(3) के अधीन विधायी पद प्राप्त करने के लिए निरर्हित रही । (पैरा 34)

जब कोई निचला न्यायालय किसी अभियुक्त को दोषसिद्ध ठहराता है और उसे दंडादिष्ट करता है तो यह उपधारणा समाप्त हो जाती है कि अभियुक्त निर्दोष है । दोषसिद्धि प्रवर्तित हो जाती है और अभियुक्त को दंडादेश भोगना होता है । किसी अपील न्यायालय द्वारा दंडादेश के निष्पादन पर रोक लगाई जा सकती है और अभियुक्त को जमानत पर छोड़ा जा सकता है । अनेक मामलों में अभियुक्त को इसलिए जमानत पर छोड़ दिया जाता है ताकि अपील कम से कम भागतः इस कारण निष्फल न हो जाए कि अभियुक्त ने कारावास पहले ही भुगत लिया है । यदि अभियुक्त की अपील सफल होती है तो दोषसिद्धि इस प्रकार समाप्त हो जाती है मानो यह कभी विद्यमान थी ही नहीं और दंडादेश अपास्त हो जाता है । किसी सफल अपील का अर्थ यह है कि अपराध का लांछन बिल्कुल ही समाप्त हो गया है । किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि निर्दोषिता की उपधारणा विचारण न्यायालय द्वारा दोषसिद्धि के पश्चात् भी बनी रहती है । इसमें अंतर्वलित दोषसिद्धि और दंडादेश अभियुक्त के विरुद्ध तब तक पूरी तरह प्रवर्तित होती है जब तक कि इसे अपील में अपास्त नहीं कर दिया जाता और दोषसिद्धि और दंडादेश से संबद्ध निरर्हता भी प्रवर्तित रहती है । (पैरा 40)

संविधान, बहुमत वाले दल के माध्यम से अभिव्यक्त जनता की इच्छा पर अभिभावी होता है । बहुमत वाले दल के माध्यम से अभिव्यक्त जनता की इच्छा केवल तभी अभिभावी होती है जब वह संविधान के अनुरूप हो । राज्यपाल संविधान के अधीन एक कृत्यकारी है और उन्हें "संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करने" की शपथ दिलाई जाती है (अनुच्छेद 159) । राज्यपाल, अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए या अन्यथा ऐसा कुछ नहीं कर सकता जो संविधान और विधि के प्रतिकूल हो । यह अलग बात है कि अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल को प्राप्त संरक्षण के कारण, राज्यपाल द्वारा किए गए विवेकाधिकार के प्रयोग को चुनौती नहीं दी जा सकती । यदि विधानमंडल में बहुमत वाला दल राज्यपाल को किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करने के लिए कहता है, जो विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए अर्हित नहीं है और जो इस प्रकार निरर्हित है, तो राज्यपाल को संविधान तथा विधि को ध्यान में रखते हुए जिसके अध्यधीन वह है, उससे इनकार करना चाहिए और इस संबंध में उसके द्वारा किए गए विवेकाधिकार के प्रयोग को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता । यदि मान लीजिए किन्हीं कारणों से, राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करता है जो विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए अर्हित नहीं है या इस प्रकार निरर्हित है तो यह नियुक्ति, संविधान के अनुच्छेद 164 के उपबंधों के प्रतिकूल होगी और नियुक्त व्यक्ति के नियुक्ति पर बने रहने के प्राधिकार को अधिकार-पृच्छा की कार्यवाहियों में चुनौती दी जा सकती है । यह बात नियुक्त व्यक्ति को नियुक्ति पर बने रहने का उच्चतर अधिकार प्रदान नहीं करती कि उसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की गई है । यदि नियुक्ति सांविधानिक उपबंधों के प्रतिकूल है तो इसे अभिखंडित किया जाएगा ।(पैरा 50 और 51)

इस निष्कर्ष के गंभीर परिणाम होंगे कि द्वितीय प्रत्यर्थी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ नहीं दिलाई जा सकती थी और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकती । इसका अभिप्रायः मात्र यह नहीं होगा कि तारीख 14 मई, 2001 से राज्य में कोई विधिमान्य रूप से नियुक्त मुख्यमंत्री नहीं था बल्कि इसका अभिप्रायः यह भी होगा कि इसमें विधिमान्य रूप से नियुक्त मंत्रिपरिषद् नहीं थी क्योंकि मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति द्वितीय प्रत्यर्थी की सिफारिश पर की गई थी ।

इसका अभिप्रायः यह भी होगा कि तारीख 14 मई, 2001 से तमिलनाडु सरकार के सभी कृत्यों को प्रश्नगत किया जाएगा । इन परिणामों से बचने के लिए और राज्य और उसकी जनता के प्रशासन के हित में, जिसने इस आधार पर कार्यवाही की होगी कि ये नियुक्तियां विधिमान्य और वैध थीं, वास्तविक सिद्धांत का अवलंब लिया जाता है और यह घोषणा की जाती है कि द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा मुख्यमंत्री के रूप में, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों द्वारा और राज्य सरकार द्वारा तारीख 14 मई, 2001 और आज तक के बीच किए गए उन सभी कृत्यों पर, जो अन्यथा वैध और विधिमान्य हैं, प्रस्तावित आदेश के कारण-मात्र से प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा । (पैरा 57)

ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसे किसी दांडिक अपराध में दोषसिद्ध और दो वर्ष से अन्यून की अवधि के लिए कारावास से दडादिष्ट किया गया हो, अनुच्छेद 164 के खंड (4) के साथ पठित उसके खंड (1) के अधीन किसी राज्य का मुख्यमंत्री नियुक्त नहीं किया जा सकता और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकता ।(पैरा 58)

संसदीय शासन प्रणाली में, जब राजनैतिक दल विधान सभा या संसद का सदस्य चुने जाने के लिए निर्वाचन लड़ते हैं तब परिणाम घोषित किए जाने के पश्चात् संसद् की दशा में राष्ट्रपति का और राज्य विधान सभा की दशा में राज्यपाल का यह कर्तव्य होता है कि वह, यथास्थिति, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री की नियुक्ति करे । जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 75 के अधीन प्रधानमंत्री की या राज्यपाल अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तो राष्ट्रपति या राज्यपाल को जिस प्रश्न का निरूपण करना होता है वह यह होता है कि कौन स्थायी सरकार देने में समर्थ होगा । अतः, अनिवार्यतः बहुमत पाने वाले दल की ही भावना अभिभावी होनी चाहिए और यह उपधारणा की जाती है कि बहुमत पाने वाले राजनैतिक दल के सदस्य अपने में से किसी एक को अपना नेता निर्वाचित करेंगे । तथापि, संविधान में, ऐसे राजनैतिक दल के, जिसका विधान सभा या संसद् में बहुमत है, निर्वाचित सदस्यों को, ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसने सदस्य चुने जाने के लिए कभी निर्वाचन लड़ा ही नहीं या ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसने निर्वाचन तो लड़ा था किन्तु वह किसी न किसी कारण से निर्वाचन में हार गया था, (अपना नेता) निर्वाचित करने से निवारित नहीं किया गया है और ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति उस राजनैतिक दल का, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त है, नेता निर्वाचित किए जाने पर प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया जा सकता है । किन्तु संविधान में निश्चित रूप से यह अनुध्यात नहीं है कि संसद् या विधान सभा में बहुमत प्राप्त करने वाले राजनैतिक दल के ऐसे निर्वाचित लोक प्रतिनिधि ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसे कि सरकार का शासन चलाने के लिए राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा बुलाया जा सके, अपना नेता निर्वाचित न करें, जिसके पास संसद् या विधान सभा का स्थान भरने के लिए क्रमशः संविधान के अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 173 में, यथा अंतर्विष्ट, निर्वाचित किए जाने संबंधी, अर्हता नहीं है अथवा जो संसद् या विधान सभा का सदस्य चुने जाने या होने के लिए क्रमशः संविधान के अनुच्छेद 102 और अनुच्छेद 191 के अधीन निरर्हित है । बहरहाल, यदि विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा, जिन्हें विधान सभा में बहुमत प्राप्त हुआ है, किसी ऐसे व्यक्ति को निर्वाचित किया जाता है और उस व्यक्ति के पास या तो अनुच्छेद 173 के अधीन विहित अर्हता नहीं है या जो विधान सभा का सदस्य चुने जाने या होने के लिए अनुच्छेद 191 के अधीन विहित निरर्हता से ग्रस्त हो गया है, तो राज्यपाल उस राजनैतिक दल के, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त है, निर्वाचित सदस्यों की उस इच्छा का, जिससे कि संविधान के अनुच्छेद 164(1) के अधीन उस व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जा सके, सम्मान करने के लिए आबद्धकर नहीं होगा । जब अनुच्छेद 164(1) के अधीन ही राज्यपाल को अपने प्रसादपर्यन्त मुख्यमंत्री नियुक्त करने का विवेकाधिकार दिया गया है और राज्यपाल ने संविधान के अनुच्छेद 159 के अधीन संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करने तथा जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहने की शपथ ली हुई है, तब यदि ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसके पास सदस्य चुने जाने संबंधी अर्हता नहीं है या जो सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए निरर्हताग्रस्त हो गया है, मात्र इस कारण कि अनुच्छेद 164 में मुख्यमंत्री या मंत्री चुने जाने के लिए कोई अर्हता या निरर्हता का उपबंध नहीं है, मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है तो यह उस शपथ के विरुद्ध होगा । निस्संदेह यह स्थिर सिद्धांत है कि अनुच्छेद 173 में की आवश्यक अर्हता और अनुच्छेद 191 में की निरर्हता स्वतः ही मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति को लागू होती है क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली में किसी व्यक्ति के लिए विधान सभा का सदस्य बनने के लिए किसी निर्वाचन क्षेत्र के

निर्वाचक मंडल (मतदाताओं) द्वारा चुना जाना आवश्यक होता है, उसके पश्चात् ही वह मुख्यमंत्री या मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्री नियुक्त किए जाने का हकदार होता है । मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में चुने जाने के लिए अनुच्छेद 164 के अधीन किसी अर्हता या निरर्हता के विहित न होने के कारण राज्यपाल उस व्यक्ति को छह मास की सीमित अवधि के लिए, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 164(4) में अंतर्विष्ट है, मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त करने में समर्थ होता है और ऐसा केवल तभी होगा यदि ऐसे व्यक्ति के पास विधान सभा के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए अनुच्छेद 173 के अधीन यथा अपेक्षित अर्हता हो और वह अनुच्छेद 191 में वर्णित निरर्हताओं में से किसी निरर्हता के कारण अन्यथा निरर्हित न हो । राज्यपाल को निरंकुश विवेकाधिकार प्रदत्त करते हुए या राजनैतिक दल के निर्वाचित सदस्यों को, जिन्हें विधान सभा में बहुमत प्राप्त है, ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसके पास अनुच्छेद 173 में विहित अर्हता नहीं है या जो अनुच्छेद 191 में विहित निरर्हताओं के कारण निरर्हित हो गया है, चुनने का निरंकुश अधिकार प्रदान करते हुए किसी प्रकार का अन्य निर्वचन करना, संविधान के लिए हानिकर होगा और सुशासन के सिद्धांत के विरुद्ध होगा तथा स्वतः उस संविधान के प्रतिकूल होगा, जो संविधान भारत के लोगों के लिए भारत के लोगों द्वारा अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया गया है । (पैरा 67)

संविधान के अनुच्छेद 164 के उपबंधों का शुद्ध अर्थान्वयन किए जाने पर पूर्व निर्दिष्ट संविधान सभा में की गई चर्चा में, भारत शासन अधिनियम, 1935 में पूर्व विद्यमान तत्समान उपबंध और पूर्व निर्दिष्ट भारत के सांविधानिक सुधार विषयक संयुक्त समिति की परिचर्चा में सुव्यक्त रूप से यह स्पष्ट किया गया कि इस तथ्य के होते हुए भी कि अनुच्छेद 164(1) या अनुच्छेद 164(4) में कोई अर्हता या निरर्हता विहित नहीं की गई है किन्तु सदस्य चुने जाने के लिए ऐसी अर्हता या निरर्हता का उपबंध संविधान के अनुच्छेद 173 और 191 में किया गया है और उन्हें अनुच्छेद 164 के साथ पढ़ा जाना होगा तथा इस प्रकार पढ़े जाने पर प्रत्यर्थी सं.2 को, जो लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के साथ पठित अनुच्छेद 191(1)(ङ) के अधीन निरर्हताग्रस्त हो गया था, मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता था चाहे विधान सभा के लिए चुने गए उसके दल का कितना ही बहुमत हो और चाहे उन्होंने उसे सरकार बनाने के लिए अपने दल का नेता ही क्यों न चुन लिया हो । (पैरा 68)

किसी गैर सदस्य की मुख्यमंत्री के रूप में या मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्री के रूप में नियुक्ति राज्यपाल का समाधान होने पर अनुच्छेद 164 के अधीन की जाती है । यदि अनुच्छेद 191(1)(ङ) में वर्णित निरर्हताओं में से कोई निरर्हता राज्यपाल के ध्यान में लाई जाती है जो न्यायनिर्णयन की किसी अपेक्षा के बिना ही स्वीकार की जा सकती है या यदि राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि संबद्ध व्यक्ति के पास सदस्य चुने जाने के लिए अनुच्छेद 173 में यथाअंतर्विष्ट न्यूनतम अर्हता नहीं है तो ऐसे मामले में उस प्रक्रम पर राज्यपाल पर किसी असहनीय भार पड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं है और दूसरी ओर, सांविधानिक समादेश के अनुसार यह कार्य राज्यपाल का है कि वह विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत का समर्थन होते हुए भी वह ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त न करे । किसी मामले विशेष में, यदि अधिकथित निरर्हता विवादित तथ्य या साक्ष्य के प्रश्न पर आधारित है तो राज्यपाल उन विवादित तथ्यों के प्रश्नों पर विचार न करने का विकल्प अपना सकता है और इसलिए ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्त कर सकता है । ऐसे किसी मामले में, राज्यपाल अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री या मंत्री की नियुक्ति के मामले में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करता है । किन्तु ऐसे किसी मामले में जहां कि निरर्हता ऐसी है जो देखने से ही प्रकट होती है, जैसा कि विचाराधीन मामले में भी है, अर्थात् संबद्ध व्यक्ति दोषसिद्ध ठहराया गया है और उसे दो वर्ष से अधिक अवधि के कारावास से दंडादिष्ट किया गया है और दोषसिद्धि के प्रवर्तन पर रोक नहीं लगाई गई है और अपील लंबित पड़ी हुई है और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के साथ पठित अनुच्छेद 191(1)(ङ) के अधीन निरर्हता प्रत्यक्षतया प्रकट होती है, वहां राज्यपाल का मात्र इस कारण कि विधान परिषद् के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत ने संबद्ध व्यक्ति को अपना नेता चुना है, ऐसे किसी निरर्हित व्यक्ति को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करना उसकी अधिकारिता से बाहर जाकर की गई कार्रवाई होगी और सांविधानिक प्रत्यादेशों और मानदंडों के विरुद्ध की गई कार्रवाई होगी । संविधान में बाधा डालने के लिए उद्दण्ड कार्य करने की संविधान में अनुज्ञा नहीं दी गई है । भारत के लोग और विधान सभा के निर्वाचित सदस्य भी सांविधानिक उपबंधों से

आबद्धकर होते हैं और लोक प्रतिनिधियों का, जो विधान सभा के लिए निर्वाचित किए गए हैं, सत्यनिष्ठ कर्तव्य होता है कि वे संविधान की मर्यादा बनाए रखें । अतः सरकार बनाने के लिए मुख्यमंत्री की नियुक्ति के विषय में उनकी ओर से कोई भी कार्य, जो संविधान के प्रतिकूल हो, राज्यपाल द्वारा किए जाने की कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए। (पैरा 69)

अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल को दी गई उन्मुक्ति निश्चित रूप से राज्यपाल द्वारा नियुक्त व्यक्ति को उपलब्ध नहीं है । किन्तु प्रस्तुत मामले में, जब अधिकार पृच्छा (क्वो वारंटो) की रिट जारी किए जाने संबंधी आवेदन की परीक्षा की जा रही हो, तब वे राज्यपाल नहीं हैं, जिन्हें कि न्यायालय के प्रति जवाबदेह बनाया जा रहा है, बल्कि वह नियुक्त व्यक्ति-प्रत्यर्थी सं.2 है, जो इस बात का समाधान करने के लिए कर्तव्यबद्ध है कि लोक पद को अनधिकृत रूप से ग्रहण नहीं किया गया है । अधिकार पृच्छा (की रिट) किसी व्यक्ति द्वारा लोक पद का अनधिकृत ग्रहण किए जाने से जनसाधारण का बचाव करती है और न्यायालय द्वारा ऐसी कोई रिट जारी किए जाने से पूर्व जिन बातों का समाधान किया जाना होता है वे ये हैं कि प्रश्नगत पद संविधान द्वारा सृजित लोक पद हो और वह व्यक्ति, जो उस पद को ग्रहण करने के लिए विधिक रूप से अर्हित नहीं है, संविधान और (संबद्ध) विधि अर्थात् लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के उपबंधों का स्पष्ट उल्लंघन करते हुए उस पद को ग्रहण किए हुए हो। यदि न्यायालय का अंततोगत्वा यह निष्कर्ष है कि प्रत्यर्थी सं.2 संविधान के अधीन मुख्यमंत्री का लोक पद ग्रहण करने के लिए निरर्हित है, तो अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल की उन्मुक्ति अधिकार पृच्छा (क्वो वारंटो) की रिट जारी किए जाने में वर्जना के रूप में उसमें आड़े नहीं आ सकती । प्रस्तुत मामले में राज्य सरकार ने यह सकारात्मक पक्ष अपनाया है कि प्रत्यर्थी सं.2 को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने में सांविधानिक उपबंधों का अथवा विधि का कोई अतिक्रमण नहीं हुआ है, उक्त पक्ष की सत्यता ही संवीक्षा की विषयवस्तु है । (पैरा 70)

संविधान के अधीन यह प्रत्येक कृत्यकारी का, जिसके अंतर्गत राज्यपाल भी है, और न्यायपालिका का कर्तव्य है कि वह किसी राज्य की विधान सभा के निर्वाचन में लोगों की यथा परिलक्षित इच्छा को प्रभावी रूप दे । जब एक बार मतदाता किसी राजनैतिक दल को और उसके नेता को पांच वर्ष की अवधि के लिए राज्य की सरकार चलाने के लिए अपना समादेश दे देते हैं, तो संविधान में उसके प्रतिकूल कोई अभिव्यक्त उपबंध न होने की दशा में, राज्यपाल उस विधान मंडल के दल के नेता को, जो निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना गया हो, सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने के लिए आबद्धकर है । संविधान एक ऐसा दस्तावेज है, जिसकी एक विशेष विधिक सम्मानीयता है, जो राज्य के भीतर सरकार के ढांचे तथा उसके अंगों (कृत्यकारियों) के मूल कृत्यों को नियत करता है और उन सिद्धांतों को घोषित करता है जिनके द्वारा उन अंगों को कार्य करना चाहिए । संविधान किसी देश की पूर्ण शासन पद्धति तथा उन नियमों के संकलन के प्रति निर्देश करता है जो सरकार की स्थापना तथा उसका विनियमन करते हैं या उसको शासित करते हैं । हमारे देश में, हमारा एक लिखित संविधान है जो भारत के लोगों द्वारा स्वयं को आत्मर्पित किया गया है । उक्त संविधान का प्रमुख स्थान है । इस तथ्य के होते हुए भी हमारा एक लिखित संविधान है, समय के साथ-साथ, विभिन्न प्रकार के नियम तथा पद्धतियां विकसित हुई हैं जो बदलती परिस्थितियों के अनुसार संविधान के प्रवर्तन को व्यवस्थित करती हैं । किसी भी लिखित संविधान में वे सभी विस्तृत नियम नहीं होते जिन पर सरकार निर्भर करती हो । विधानमंडल के निर्वाचन से संबंधित नियम प्रायः लिखित संविधान में नहीं होते बल्कि वे संविधान द्वारा अधिकथित सीमाओं के अधीन विधायिका द्वारा अधिनियमित कानूनों में समाविष्ट होते हैं । संविधान का उद्भव किसी सरकार के उद्भव से भी पहले का है और सरकार या सुशासन संविधान की ही सृष्टि है । दस्तावेजी संविधान उनके विश्वास और राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है जिन्होंने इसे तैयार किया । सांविधानिक शासन का एक सिद्धांत वह है जो उसके द्वारा लोकतांत्रिक परम्पराओं में विकसित किया गया था । लिखित संविधान को जो मुख्य कृत्य समनुदिष्ट किया गया है वह है सरकार के अंगों को नियंत्रित करना । संविधान विधि में राज्य के अस्तित्व की पूर्वकल्पना की गई है और उसमें उन विधियों को सम्मिलित किया गया है जो सरकार के ढांचे तथा उसके मूल अंगों के कृत्यों को और राज्यों के तथा नागरिकों के परस्पर संबंधों को विनियमित करते हैं । जहां भी लिखित संविधान है वहां उन नियमों पर, जो उसमें अंतर्विष्ट हैं, तथा उस रीति पर बल दिया जाता है जिस रीति में

उच्चतर (उच्चतम) न्यायालय द्वारा सांविधानिक अधिकारिता के भीतर उनका निर्वचन किया जाता है । जहां भी लिखित संविधान है वहां सरकार के विधिक ढांचे के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं । परिसंघीय संविधान में सरकार के कार्य दो वर्गों में बांटे जाते हैं जो सरकार के परिसंघीय अंगों को सौंपे जाते हैं और जो विभिन्न राज्यों, क्षेत्रों अथवा प्रांतों को, जो परिसंघ बनाते हैं, सौंपे जाते हैं । किन्तु सांविधानिक सीमाएं सरकार के परिसंघीय और राज्यीय अंगों, दोनों, पर आबद्धकर होती हैं जो सीमाएं विधि की दृष्टि से प्रवर्तनीय हों । सांविधानिक व्यवहार के ऐसे अनेक महत्वपूर्ण नियम, जिनका पालन प्रधानमंत्री और मंत्रियों द्वारा, विधानमंडल के सदस्यों द्वारा, न्यायाधीशों और सिविल सेवकों द्वारा किया जाता है, न तो अधिनियमों में अंतर्विष्ट हैं और न ही न्यायिक विनिश्चयों में अंतर्विष्ट हैं । किन्तु ऐसे नियमों को संविधान के रचियताओं द्वारा संविधान की सकारात्मक नैतिकता के नियम के रूप में परिभाषित किया गया है और कई बार लेखक इन्हें संविधान के अलिखित सूत्रों का नाम देते हैं। सांविधानिक व्यवहार के नियम, जिन्हें उनके द्वारा और उन पर आबद्धकर माना जाता है, जो संविधान को प्रवर्तन में लाते हैं किन्तु जिन्हें न तो न्यायालयों द्वारा प्रवृत्त किया जाता है और न ही संसद् के सदन के पीठासीन अधिकारियों द्वारा प्रवृत्त किया जाता है । वर्तमान राजनैतिक दलों और निर्वाचन पद्धति में यह स्वीकृत है कि साधारण निर्वाचन के बाद, राज्य विधान मंडल या संसद् में अधिक संख्या में स्थान प्राप्त करने वाला दल सरकार बनाएगा । संविधान का यही आधारभूत तत्व है और इसे ही अनुज्ञात किया गया है । किन्तु सरकार बनाने के विषय में, यदि उक्त बहुमत पाने वाला दल ऐसे किसी व्यक्ति को अपना नेता चुनता है, जिसे देश के संविधान और विधियों द्वारा उसे विधान सभा का सदस्य चुने जाने के लिए निरर्हित किया गया है, तो बहुमत से निर्वाचित सदस्यों की ऐसी कार्रवाई मतदाताओं (निर्वाचक मंडल) और संविधान के प्रति विश्वासघात होगी, जिसके प्रति वे उत्तरदायी हैं । ऐसे मामले में, जनता की तथाकथित इच्छा को असांविधानिक ठहराया जाना चाहिए और किसी भी प्रकार से उसे सहन नहीं किया जा सकता और न ही किया जाएगा । (पैरा 72)

अधिकार-पृच्छा की रिट वह रिट है जो वर्णनकर्ता के अनुसार उस व्यक्ति के विरुद्ध होती है, जो लोक पद धारण करने का हकदार नहीं होता और केवल पद का अनुचित अधिकार प्राप्त करने वाला होता है । उस व्यक्ति से, जिसके विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की रिट जारी की जाती है, यह दर्शित करने की अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति किस प्राधिकार से उस पद को धारण करने का हकदार है । चुनौती कई आधारों पर दी जा सकती है, जिसके अंतर्गत वे आधार भी हैं कि पद पर कब्जा करने वाला व्यक्ति अपेक्षित अर्हताएं पूरी नहीं करता अथवा ऐसी किसी निरर्हता से ग्रस्त है जो उसे ऐसा पद धारण करने से विवर्जित करती है । (पैरा 79)

प्रस्तुत मामले में, राज्यपाल को न्यायालय के प्रति उत्तरदायी बनाना आवश्यक नहीं है । तथापि, संविधान के अनुच्छेद 361 द्वारा ऐसे पद के धारक को, जिसको कि वह विधि के अधीन धारण करने का हकदार नहीं है, प्रतिनिधिक रूप से कोई संरक्षण या उन्मुक्ति नहीं दी गई है । यदि लोकपद धारण करने के विधिमान्य प्राधिकार को सिद्ध करने के लिए कहे जाने पर, कोई व्यक्ति ऐसा करने में असफल रहता है तो ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की रिट जारी की जाएगी । यह कहने की कोई प्रतिरक्षा (बचाव) नहीं होगी कि नियुक्ति ऐसे सक्षम प्राधिकारी द्वारा की गई है जो विधि के अधीन अपने पद के कर्तव्यों के पालन में किए गए किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं है । विधिक अपेक्षाएं और लोकपद धारण करने संबंधी आवश्यक अर्हताएं पूरी करने के प्रश्न पर, इस तथ्य का सहारा लिए बिना कि किसने नियुक्ति की थी और वह रीति जिसमें कि नियुक्ति की गई थी, कार्यवाहियों के अंतर्गत विचार किया जाएगा । अतः संविधान का अनुच्छेद 361 राज्यपाल द्वारा लोकपद धारण के लिए नियुक्त किए गए ऐसे किसी व्यक्ति की, जो याची/वर्णनकर्ता के अनुसार पद पर अनुचित रूप से अधिकार किए हुए है, हकदारी के प्रश्न की जांच करने में कोई अड़चन नहीं है । (पैरा 82)

प्रभेदित निर्णय

पैरा

[2000] (2000) 1 एस. सी. सी. 621:
पदम सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ; 41

[1982]	[1982] 1 उम. नि. प. 1 = (1981) 2 एस. सी. सी. 84 : **विद्या चरण शुक्ल** बनाम **पुरषोत्तम लाल कौशिक** ;	44
[1981]	[1981] 4 उम. नि. प. 165 = (1981) 1 एस. सी. सी. 107 : **मारू राम** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	42
[1976]	[1976] 3 उम. नि. प. 883 = (1976) 1 एस. सी. सी. 560 : **दिलीप कुमार शर्मा और अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ।	43

अवलंबित निर्णय

[1995]	[1995]1 उम. नि. प. 141 = (1994) सप्ली. 3 एस. सी. सी. 162 : **रघबीर सिंह** बनाम **सुरजीत सिंह** ;	36,74
[1994]	(1994) 3 एस. सी. सी. 1 : **एस.आर. बोम्मई** बनाम **भारत संघ** ;	70
[1977]	[1977] 4 उम. नि. प. 1107 = (1977) 3 एस. सी. सी. 592 : **राजस्थान राज्य और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	53
	377 यू. एस. 713, 12 एल. एडी. 2डी. 632, 84 एस. सीटी. 1472 : **लुकास** बनाम **कोलोराडो जनरल असेम्बली** ।	71

अनुसृत निर्णय

[1992]	(1992) 2 एस. सी. सी. 428: **श्री कुमार पदमा प्रसाद** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	52
[1981]	[1981] 3 उम. नि. प. 146 = [1981] 1 एस. सी. आर. 206 : **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य** ।	28,72

निर्दिष्ट निर्णय

[2001]	2001(5) स्केल 269 : **एस. आर. चौधरी** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य** ;	19
[1996]	(1996) 6 एस. सी. सी. 734 : **एस. पी. आनन्द, इन्दौर** बनाम **एच. डी. देवेगौड़ा और अन्य** ;	18
[1993]	(1993) 4 एस. सी. सी. 119 : **आर.के.जैन** बनाम **भारत संघ** ;	70
[1987]	(1987) सप्ली. एस. सी. सी. 310 : **हरशरण वर्मा** बनाम **भारत संघ और एक अन्य** ;	17
[1985]	(1985) 2 एस. सी. सी. 48 : **हरशरण वर्मा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य** ;	16
[1975]	[1975] 1 उम. नि. प. 357 = (1974) 2 एस. सी. सी. 831: **शमशेर सिंह** बनाम **पंजाब राज्य** ;	72
[1973]	[1973] 2 उम. नि. प. 159 = [1973] सप्ली. एस. सी. आर. 1: **महामहिम केशवानन्द भारती श्री पदगालवरु** बनाम **केरल राज्य** ;	26,28

[1971] [1971] 2 उम. नि. प. 557 = (1971) 1 एस. सी. सी. 616 :
हरशरण वर्मा बनाम **श्री त्रिभुवन नारायण सिंह, मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश और एक अन्य ।** 15

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : **2001 की रिट याचिका (सिविल) सं. 242, 2001 की रिट याचिका (सिविल) सं. 245, 246, 261, 2001 की सिविल अपील सं. 6589 और 2001 की अंतरण याचिका (सिविल) सं. 382 से उद्भूत 2001 का अंतरण मामला (सिविल) सं. 26.**

संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

उपस्थित पक्षकारों की ओर से सर्वश्री सोली जे. सोराबजी, महान्यायवादी, हरीश एन. साल्वे, महासालिसिटर, अशोक एच. देसाई, अनिल बी. दीवान, आर. मोहन, एफ. एस. नारीमन, पी. पी. राव, के. के. वेणुगोपाल, एम. रामा जोएस, आर. के. कपूर, आर. ए. मिश्र, बी. आर. कपूर, सुमित कुमार, पी. वर्मा, एस. के. श्रीवास्तव, के. एल. वोहरा, चन्द्र शेखर अशरी, वी. जी. प्रागसम, दिनेश कुमार गर्ग, आर. सी. कौशिक, डा. फ्रांसिस जुलियन और बी. वी. दीपक, सुश्री रोक्सना स्वामी, श्री आर. एन. केशवानी, सुश्री रेवती राघवन और श्वेता गर्ग, सर्वश्री मनीष गोस्वामी, पी. परमेश्वरन्, मनीष सिंघवी, संजय आर. हेग्ड़े, सत्य मित्रा, एस. डब्ल्यू. ए. क़ादरी, ध्रुव मेहता, प्रतीष कपूर और सिद्धार्थ गोस्वामी, सुश्री सुषमा सूरी, सर्वश्री के. वी. विश्वनाथन, एन. ज्योति, कुंवर अजीत मोहन सिंह, अतुल कुमार सिन्हा और के. वी. वेंकटरमण, सुश्री सीमा, और दिव्या, सर्वश्री टी. वी. जॉर्ज, राज कंवर-स्वयं (2001 के अंतरिम आवेदन सं. 4 में मध्यक्षेपियों की ओर से) और एस. एन. भट्ट, 2001 की रिट याचिका (सिविल) सं. 261 में याची स्वयं (उपस्थित नहीं)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एस. पी. भरूचा ने दिया ।

न्या. भरूचा – इजाज़त दी गई ।

2. इन मामलों में अत्यधिक सांविधानिक महत्व का एक प्रश्न उद्भूत हुआ है, अर्थात्, क्या ऐसे व्यक्ति को, जिसे किसी दांडिक अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है और जिसकी दोषसिद्धि को अपील के लंबित रहने तक निलंबित नहीं किया गया है, किसी राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई जा सकती है और क्या वह ऐसे कृत्य करता रह सकता है ।

3. द्वितीय प्रत्यर्थी सुश्री जे. जयललिता वर्ष 1991 और 1996 के बीच तमिलनाडु राज्य की मुख्यमंत्री थी । उसे उस कार्यकाल की बाबत (1997 के भ्रष्टाचार मामला सं. 4 और 1997 के भ्रष्टाचार मामला सं. 13 में) भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(1)(ग), धारा 13(1)(घ) और धारा 13(2) के साथ पठित भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख के अधीन दंडनीय अपराधों और भारतीय दंड संहिता की धारा 409 के अधीन अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया । उसे प्रथम मामले में तीन वर्ष का कठोर कारावास भुगतने और 10,000 रुपए के जुर्माने का संदाय करने तथा दूसरे मामले में दो वर्ष का कठोर कारावास भुगतने और 5000 रुपए के जुर्माने का संदाय करने के लिए दंडादिष्ट किया गया ।

4. दोनों मामलों में अधिरोपित जुर्माने का संदाय कर दिया गया ।

5. द्वितीय प्रत्यर्थी ने अपनी दोषसिद्धि के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलें फाइल कीं । अपीलें

अभी लंबित हैं । उसके द्वारा दोनों अपीलों में आवेदन फाइल करने पर उच्च न्यायालय ने तारीख 3 नवम्बर, 2000 के आदेश द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389(3) के अधीन कारावास के दंडादेशों को निलंबित कर दिया और प्रत्यर्थी सं. 2 को, उस आदेश में विनिर्दिष्ट निबंधनों और शर्तों पर जमानत पर छोड़ने का निदेश दिया । इसके पश्चात्, उसने दोनों दांडिक मामलों में दिए गए निर्णयों के प्रवर्तन को रोकने की ईप्सा करते हुए दोनों अपीलों में आवेदन फाइल किए । तारीख 14 अप्रैल, 2001 को मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश, न्यायमूर्ति मलई सुब्रमण्यम ने इन आवेदनों को खारिज कर दिया चूंकि दोषसिद्धियां, अन्य बातों के साथ-साथ भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(1)(ग) और धारा 13(1)(घ) के अधीन थीं । इन आदेशों को चुनौती नहीं दी गई थी ।

6. अप्रैल, 2001 में, द्वितीय प्रत्यर्थी ने तमिलनाडु विधानसभा के लिए होने वाले साधारण निर्वाचन के संबंध में चार निर्वाचन-क्षेत्रों से नामनिर्देशन-पत्र फाइल किए । तारीख 24 अप्रैल, 2001 को तीन नामनिर्देशन-पत्र, दो दांडिक मामलों में उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश के कारण लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8(3) के अधीन उसकी निरर्हता के कारण खारिज कर दिए गए । चतुर्थ नामनिर्देशन-पत्र इस कारण खारिज कर दिया गया कि उसने दो से अधिक स्थानों से नामनिर्देशन फाइल किए थे । खारिजी के आदेशों की शुद्धता को प्रश्नगत नहीं किया गया था।

7. तारीख 13 मई, 2001 को तमिलनाडु विधानसभा के निर्वचन परिणाम घोषित किए गए और ए. आई. डी. एम. की पार्टी, जिसने द्वितीय प्रत्यर्थी को अपने मुख्यमंत्री प्रत्याशी के रूप में प्रस्तुत किया था, बहुमत से विजयी हुई । निर्वाचन-परिणामों के परिणामस्वरूप तारीख 14 मई, 2001 को ए.आई.डी.एम.के. ने द्वितीय प्रत्यर्थी को अपनी नेता चुन लिया ।

8. तारीख 14 मई, 2001 को द्वितीय प्रत्यर्थी को तमिलनाडु राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई ।

9. इन रिट याचिकाओं और अपील में यह दलील दी गई कि विधि के अनुसार द्वितीय प्रत्यर्थी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ नहीं दिलाई जा सकती थी और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकती थी । उन्होंने उसके विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की प्रकृति के निदेशों की ईप्सा की ।

10. भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 के वे उपबंध, जो द्वितीय प्रत्यर्थी की दोषसिद्धि और दंडादेश के लिए सुसंगत हैं, निम्नलिखित रूप में हैं :–

"13. **लोक सेवक द्वारा आपराधिक अवचार –**

(1) कोई लोक सेवक आपराधिक अवचार का अपराध करने वाला कहा जाता है, –

(क)................

(ख)................

(ग) यदि वह लोक सेवक के रूप में अपने को सौंपी गई या अपने नियंत्रणाधीन किसी संपत्ति का अपने उपयोग के लिए बेइमानी से या कपटपूर्वक दुर्विनियोग करता है या उसे अन्यथा संपरिवर्तित कर लेता है या किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा करने देता है, या

(घ) यदि वह --

(i) भ्रष्ट या अवैध साधनों से अपने लिए या किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई मूल्यवान चीज या धन संबंधी फायदा अभिप्राप्त करता है ; या

(ii) लोक सेवक के रूप में अपनी स्थिति का अन्यथा दुरुपयोग करके अपने लिए या किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई मूल्यवान चीज या धन संबंधी फायदा अभिप्राप्त करता है ; या

(iii) लोक सेवक के रूप में पद धारण करके किसी व्यक्ति के लिए कोई मूल्यवान चीज या धन संबंधी

फायदा बिना किसी लोक हित के अभिप्राप्त करता है ; या

(ड.).................

(2) कोई लोक सेवक जो आपराधिक अवचार करेगा इतनी अवधि के लिए, जो एक वर्ष से कम की न होगी किन्तु जो सात वर्ष तक की हो सकेगी, कारावास से दंडनीय होगा और जुर्माने का भी दायी होगा ।"

11. भारतीय दंड संहिता की धारा 409, जो कि दोषसिद्धि और दंडादेश के लिए सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में है :–

"**409. लोक सेवक द्वारा या बैंकार, व्यापारी या अभिकर्ता द्वारा आपराधिक न्यासभंग** – जो कोई लोक सेवक के नाते अथवा बैंकार, व्यापारी, फैक्टर, दलाल, अटर्नी या अभिकर्ता के रूप में अपने कारबार के अनुक्रम में किसी प्रकार संपत्ति या संपत्ति पर कोई भी अख्तार अपने को न्यस्त होते हुए उस संपत्ति के विषय में आपराधिक न्यासभंग करेगा, वह आजीवन कारावास से, या दोनों में से किसी भांति के कारावास से, जिसकी अवधि दस वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा और जुर्माने से भी दंडनीय होगा ।"

12. पहले विरचित प्रश्न का उत्तर देने के प्रयोजनों के लिए संविधान के निम्नलिखित उपबंध अत्यधिक सुसंगत हैं :–

"163(1) जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करे उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, मुख्यमंत्री होगा ।

164. **मंत्रियों के बारे में अन्य उपबंध**

(1) मुख्य मंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल, मुख्य मंत्री की सलाह पर करेगा तथा मंत्री, राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे :

परन्तु बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा राज्यों में जनजातियों के कल्याण का भारसाधक एक मंत्री होगा जो साथ ही अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के कल्याण का या किसी अन्य कार्य का भी भारसाधक हो सकेगा।

(2) मंत्रि-परिषद् राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी ।

(3) किसी मंत्री द्वारा अपना पद ग्रहण करने से पहले, राज्यपाल तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्ररूपों के अनुसार उसको पद की और गोपनीयता की शपथ दिलाएगा ।

(4) कोई मंत्री, जो निरन्तर छह मास की किसी अवधि तक राज्य के विधान-मंडल का सदस्य नहीं है, उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रहेगा ।

(5) मंत्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे जो उस राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा, समय-समय पर अवधारित करे और जब तक उस राज्य का विधान-मंडल इस प्रकार अवधारित नहीं करता है तब तक ऐसे होंगे जो दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं ।

173. **राज्य के विधान-मंडल की सदस्यता के लिए अर्हता** - कोई व्यक्ति किसी राज्य के विधान-मंडल के किसी स्थान को भरने के लिए चुने जाने के लिए अर्हित तभी होगा जब –

(क) वह भारत का नागरिक है और निर्वाचन आयोग द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्ररूप के अनुसार शपथ लेता है या प्रतिज्ञान करता है और उस पर अपने हस्ताक्षर करता है ;

(ख) वह विधान सभा के स्थान के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का और विधान परिषद् के स्थान के लिए कम से कम तीस वर्ष की आयु का है ; और

(ग) उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं हैं जो इस निमित्त संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन विहित की जाएं ।

177. **सदनों के बारे में मंत्रियों और महाधिवक्ता के अधिकार** – प्रत्येक मंत्री और राज्य के महाधिवक्ता को यह अधिकार होगा कि वह उस राज्य की विधान सभा में या विधान परिषद् वाले राज्य की दशा में दोनों सदनों में बोले और उनकी कार्यवाहियों में अन्यथा भाग ले और विधान-मंडल की किसी समिति में, जिसमें उसका नाम सदस्य के रूप में दिया गया है, बोले और उसकी कार्यवाहियों में अन्यथा भाग लें, किन्तु इस अनुच्छेद के आधार पर वह मत देने का हकदार नहीं होगा ।

191. **सदस्यता के लिए निरर्हताएं** –

(1) कोई व्यक्ति किसी राज्य की विधान सभा या विधान परिषद् का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा –

(क) यदि वह भारत सरकार के या पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी राज्य की सरकार के अधीन ऐसे पद को छोड़कर जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना राज्य के विधान-मंडल के विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है ;

(ख) यदि वह विकृतचित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है ;

(ग) यदि वह अनुन्मोचित दिवालिया है ;

(घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुशक्ति को अभिस्वीकार किए हुए है ;

(ङ.) यदि वह संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित कर दिया जाता है ।

स्पष्टीकरण - इस खंड के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण भारत सरकार के या पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है ।

(2) कोई व्यक्ति किसी राज्य की विधान सभा या विधान परिषद् का सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा यदि वह दसवीं अनुसूची के अधीन इस प्रकार निरर्हित हो जाता है ।"

13. संसद् के संबंध में इसी प्रकृति के उपबंध अनुच्छेद 74, 75, 84, 88 और 102 में पाए जा सकते हैं ।

14. संसद् के सदनों और हर एक राज्य के विधान-मंडल के सदन या सदनों के लिए निर्वाचनों के संचालन के लिए, उन सदनों की सदस्यता के लिए अर्हताओं और निरर्हताओं के लिए ऐसे निर्वाचनों में या उनसे संसक्त भ्रष्ट आचरणों और अन्य अपराधों के, और ऐसे निर्वाचनों से उद्भूत या संसक्त शंकाओं और विवादों के लिए उपबंध करने के लिए अधिनियमित किया गया था । हमारे प्रयोजनों के लिए उस अधिनियम के सुसंगत उपबंध धारा 8, 8क, 9, 9, 10 और 10क हैं । वे इस प्रकार हैं :–

(1) "8. **कतिपय अपराधों के लिए दोषसिद्धि पर निरर्हता** – (1) निम्नलिखित के अधीन दंडनीय किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया व्यक्ति ऐसी दोषसिद्धि की तारीख से छह वर्ष की अवधि के लिए निरर्हित होगा, अर्थात् :–

(क) भारतीय दंड संहिता, 1860(1860 का 45) की धारा 153क (धर्म, मूलवंश, जन्म-स्थान, निवास-

स्थान, भाषा, इत्यादि के आधारों पर विभिन्न समूहों के बाच शत्रुता का संप्रवर्तन और सौहार्द बने रहने पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कार्य करने का अपराध) या धारा 171ङ(रिश्वत का अपराध) या धारा 171च (निर्वाचनों में असम्यक् असर डालने या प्रतिरूपण का अपराध) या धारा 376 की उपधारा (1) या उपधारा (2) या धारा 376क या धारा 376ख या धारा 376ग या धारा 376घ(बलात्संग से संबंधित अपराध), या धारा 498क (किसी स्त्री के पति या पति के नातेदार द्वारा उसके प्रति क्रूरता करने का अपराध), या धारा 505 की उपधारा (2) या उपधारा (3) (विभिन्न वर्गों में शत्रुता, घृणा या वैमनस्य पैदा या संप्रवर्तित करने वाले कथन अथवा किसी पूजा के स्थान में या किसी जमाव में, जो धार्मिक पूजा या धार्मिक कर्म करने में लगा हुआ हो, ऐसा कथन करने से संबंधित अपराध);

(ख) सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955(1955 का 22) जो 'अस्पृश्यता' का प्रचार और आचरण करने और उससे उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करने के लिए दंड का उपबंध करता है ; या

(ग) सीमा शुल्क अधिनियम. 1962(1962 का 52) (प्रतिषिद्ध माल का आयात या निर्यात करने का अपराध); या

(घ) विधिविरुद्ध क्रियाकलाप(निवारण) अधिनियम, 1967(1967 का 37) की धारा 10 से धारा 12 तक (विधिविरुद्ध घोषित किए गए किसी संगम का सदस्य होने का अपराध, किसी विधिविरुद्ध संगम की निधियों के बरतने से संबंधित अपराध तथा किसी अनुसूचित स्थान के संबंध में किए गए आदेश के उल्लंघन से संबंधित अपराध); या

(ड.) विदेशी मुद्रा (विनियमन) अधिनियम, 1973 (1973 का 46); या

(च) स्वापक ओषधि और मनःप्रभावी पदार्थ अधिनियम, 1985(1985 का 61); या

(छ) आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 28) की धारा 3 (आतंकवादी कार्य करने का अपराध) या धारा 4 (विध्वंसकारी क्रियाकलाप करने का अपराध); या

(ज) धार्मिक संस्था (दुरुपयोग निवारण) अधिनियम, 1988 की धारा 7 (धारा 3 से धारा 6 तक के उपबंधों के उल्लंघन का अपराध); या

(झ) इस अधिनियम की धारा 125 (निर्वाचन के संबंध में वर्गों के बीच शत्रुता संप्रवर्तित करने का अपराध) या धारा 135 (मतदान केन्द्रों से मतपत्रों को हटाने का अपराध) या धारा 135क (बूथों के बलात् ग्रहण का अपराध) या धारा 136 की उपधारा (2) का खंड (क) (किसी नामनिर्देशन को कपटपूर्वक विरूपित करने या कपटपूर्वक नष्ट करने का अपराध); या

(ञ) उपासना स्थल (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1991 की धारा 6 (किसी उपासना स्थल के संपरिवर्तन का अपराध); या

(ट) राष्ट्र-गौरव अपमान-निवारण अधिनियम, 1971 (1971 का 69) की धारा 2 (भारतीय राष्ट्रीय ध्वज या भारत के संविधान का अपमान करने का अपराध) या धारा 3 (राष्ट्रगान के गायन को रोकने का अपराध) ।

2. कोई व्यक्ति जो --

(क) जमाखोरी या मुनाफाखोरी का निवारण करने का उपबंध करने वाली किसी विधि; या

(ख) खाद्य या औषधि के अपमिश्रण से संबंधित किसी विधि; या

(ग) दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 (1961 का 28) के किन्हीं उपबंधों; या

(घ) सती (निवारण) अधिनियम, 1987 (1987 का 3) के किन्हीं उपबंधों, के उल्लंघन के लिए सिद्धदोष

ठहराया गया है और छह मास से अन्यून के कारावास से दंडादिष्ट किया गया है, वह ऐसी दोषसिद्धि की तारीख से निरर्हित होगा और अपने छोड़े जाने से छह वर्ष की अतिरिक्त कालावधि के लिए निरर्हित बना रहेगा ।

(3) कोई व्यक्ति जो उपधारा (1) या उपधारा (2) से निर्दिष्ट किसी अपराध से भिन्न किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया है और दो वर्ष से अन्यून के कारावास से दंडादिष्ट किया गया है, ऐसी दोषसिद्धि की तारीख से निरर्हित होगा और उसे छोड़े जाने से छह वर्ष की अतिरिक्त कालावधि के लिए निरर्हित बना रहेगा ।

(4) उपधारा (1), उपधारा (2) या उपधारा (3) में किसी बात के होते हुए भी दोनों उपधाराओं में से किसी के अधीन निरर्हता उस व्यक्ति की दशा में जो दोषसिद्धि की तारीख को संसद् का या राज्य के विधान-मंडल का सदस्य है, तब तक प्रभावशील नहीं होती जब तक उस तारीख से तीन मास न बीत गए हों, अथवा, यदि उस कालावधि के भीतर उस दोषसिद्धि या दंडादेश की बाबत अपील या पुनरीक्षण के लिए आवेदन किया गया है तो जब तक न्यायालय द्वारा उस अपील या आवेदन का निपटारा न हो गया हो ।

स्पष्टीकरण - इस धारा में —

(क) जमाखोरी या मुनाफाखोरी के निवारण के लिए उपबंध करने वाली विधि से कोई ऐसी विधि या विधि का बल रखने वाला कोई ऐसा आदेश, नियम या अधिसूचना अभिप्रेत है जो निम्नलिखित के लिए उपबंध करती है –

(i) किसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन या विनिर्माण का विनियमन,

(ii) उस कीमत का नियंत्रण जिस पर कोई आवश्यक वस्तु खरीदी या बेची जा सके,

(iii) किसी आवश्यक वस्तु के अर्जन, कब्जे, भंडारकरण, परिवहन, वितरण, व्ययन, उपयोग या उपभोग का विनियमन,

(iv) किसी ऐसी आवश्यक वस्तु के विधारण का प्रतिषेध, जो मामूली तौर पर विक्रय के लिए रखी जाती है;

(ख) 'औषधि'-का वह अर्थ है जो उसे औषधि और प्रसाधन सामग्री अधिनियम, 1940(1940 का 23) में समनुदिष्ट है ;

(ग) 'आवश्यक वस्तु' का अर्थ है जो उसे आवश्यक वस्तु अधिनियम,1955 (1955 का 10) में समनुदिष्ट है ;

(घ) 'खाद्य' का वह अर्थ है जो उसे खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 (1954 का 37) में समनुदिष्ट है ।"

15. इस मामले में संविवाद का केन्द्र-बिन्दु अनुच्छेद 164 है तथा उसके उप-अनुच्छेद (4) के प्रति विशेष निर्देश है । इस न्यायालय ने कई विनिश्चयों में उसके अर्थान्वयन पर विचार किया है । **हरशरण वर्मा** बनाम **श्री-त्रिभुवन नारायण सिंह, मुख्य मंत्री, उत्तर प्रदेश और एक अन्य**[1] वाले मामले में एक संविधान न्यायपीठ ने उस मामले में प्रथम प्रत्यर्थी के उस समय, जब कि वह उत्तर प्रदेश राज्य के विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं था, उस राज्य के मुख्य मंत्री के रूप में नियुक्ति के संबंध में विनिश्चय दिया था । न्यायालय ने यह कहा -

"हमे ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 164(4) का निर्वचन संविधान के अनुच्छेद 163 और 164 के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए । अनुच्छेद 163(1) में उपबंधित है कि जिन बातों में इस संविधान द्वारा या

[1] [1971] 2 उम. नि. प. 557 = [1971] 1 एस. सी. सी. 616.

इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यों अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़ कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा । अनुच्छेद 164(1) के अधीन मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल को करनी होती है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से करता है । वे सभी राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं । राज्यपाल द्वारा किसी व्यक्ति के मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में चुने जाने के लिए खंड (1) में कोई भी अर्हता विहित नहीं की गई है, किन्तु खंड (2) द्वारा या अनिवार्य कर दिया गया है कि मंत्रिमंडल राज्य की विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगा । इस निमित्त केवल यही एक शर्त संविधान में विहित की गई है ।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान के उपरोक्त उपबंधों के संदर्भ में यह बात निराधार हो जाती है कि अनुच्छेद 164(4) की स्पष्ट भाषा को किसी प्रकार सीमित किया जाए और उसे उस दशा तक सीमित कर दिया जाए जबकि मंत्री किसी कारणवश राज्य के विधानमंडल में अपना स्थान खो बैठे । संविधान सभा की कार्यवाही और इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में विद्यमान स्थिति से यह प्रकट हो जाता है कि अनुच्छेद 164(4) का जो अर्थान्वयन हमने किया है वह ठीक है ।"

न्यायालय ने इग्लैंड, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में विद्यमान स्थिति को उपवर्णित किया और यह मत व्यक्त किया कि इससे यह दर्शित होता है कि अनुच्छेद 164(4) एक प्राचीन परंपरा है ।

16. **हरशरण वर्मा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ ने के. पी. तिवारी को अधिकार-पृच्छा की प्रकृति की एक रिट जारी करने संबंधी एक रिट याचिका पर विचार किया, जिसे उत्तर प्रदेश तराकर में मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था हालांकि वह राज्य विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं था । **त्रिभुवन नारायण सिंह**[2] (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए पूर्ववर्ती निर्णय का अवलंब लिया गया था और यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 173(क) के संशोधन के कारण इस विधिक स्थिति में कोई तात्विक परिवर्तन नहीं लाया गया था कि ऐसा व्यक्ति, जो राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं है, अनुच्छेद 164(4) के अधीन रहते हुए मंत्री नियुक्त किया जा सकेगा जिसमें यह कहा गया है कि कोई मंत्री, जो निरंतर छह मास की किसी अवधि तक राज्य विधान-मंडल का सदस्य नहीं था, उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रहेगा ।

17. **हरशरण वर्मा** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की एक अन्य न्यायपीठ ने संसद् की सदस्यता और अनुच्छेद 75(5) के संदर्भ में एक प्रश्न पर विचार किया, जो अनुच्छेद 164(4) के निबंधनों के समरूप है । न्यायालय ने यह कहा कि ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो संसद् के किसी भी सदन का सदस्य नहीं था छह मास से अनधिक की अवधि के लिए मंत्री बन सकता है यद्यपि उसे मत देने का कोई अधिकार नहीं होगा; अनुच्छेद 88 के आधार पर वह संसद् की कार्यवाहियों में भाग लेने का हकदार होगा ।

18. **एस. पी. आनन्द, इन्दौर** बनाम **एच. डी. देवेगौड़ा और अन्य**[4] वाले मामले में प्रथम प्रत्यर्थी को, जो संसद् का सदस्य नहीं था, प्रधानमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई थी । इसे अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका फाइल करके चुनौती दी गई थी । उसमें पूर्ववर्ती निर्णयों के प्रति निर्देश किया गया । यह अभिनिर्धारित किया गया कि विवेचन की सादृश्यता के आधार पर यदि ऐसे व्यक्ति को, जो राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं है, अनुच्छेद 164(4) के अधीन छह मास तक के लिए मुख्य मंत्री नियुक्त किया जा सकता है तो ऐसे व्यक्ति को भी, जो संसद् के किसी भी सदन का सदस्य नहीं है, उसी अवधि के लिए प्रधानमंत्री नियुक्त किया जा सकता है ।

---

[1] (1985) 2 एस. सी. सी. 48.

[2] [1971] 2 उम. नि. प. 557 = (1971) 1 एस. सी. सी. 616.

[3] (1987) सप्ली. एस. सी. सी. 310.

[4] (1996) 6 एस. सी. सी. 734.

19. **एस. आर. चौधरी** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में मुख्यमंत्री सरदार हरचरण सिंह बरार की सलाह पर तेज प्रकाश सिंह नामक व्यक्ति को पंजाब राज्य के मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था । मंत्री के रूप में अपनी नियुक्ति के समय तेज प्रकाश सिंह पंजाब विधान सभा का सदस्य नहीं था । वह छह मास की अवधि के भीतर उस विधान सभा के सदस्य के रूप में नहीं चुना गया और उसने अपना त्यागपत्र दे दिया । विधान सभा की इसी अवधि के दौरान सरदार हरचरण सिंह बरार के स्थान पर श्रीमती राजेन्द्र कौर भट्टल को मुख्य मंत्री बनाया गया। मुख्य मंत्री की सलाह पर तेज प्रकाश सिंह को पुनः मंत्री नियुक्त किया गया । उनकी नियुक्ति को अधिकार-पृच्छा की रिट की ईप्सा करते हुए उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल करके चुनौती दी गई । रिट याचिका को आरंभ में ही खारिज कर दिया गया और रिट याची द्वारा इस न्यायालय में अपील फाइल की गई । इस न्यायालय द्वारा ऊपर उल्लिखित निर्णयों के प्रति निर्देश किया गया और यह अभिनिर्धारित किया गया :–

> "17. अनुच्छेद 164(1) में 'विधानमंडल के सदस्यों में से' अभिव्यक्ति का अभाव इस स्थिति का सूचक है कि जबकि उस उपबंध के अधीन गैर-विधायक व्यक्ति को मुख्य मंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्त किया जा सकता है किन्तु यह नियुक्ति अनुच्छेद 164(4) द्वारा शासित होगी, जो कि ऐसे गैर-सदस्य के, यथा-स्थिति, मंत्री या मुख्य मंत्री के रूप में बने रहने के बारे में तब तक एक निर्बंधन अधिरोपित करता है जब तक कि वह अपनी नियुक्ति की तारीख से निरन्तर छह मास की अवधि के भीतर विधानमंडल के सदस्य के रूप में निर्वाचित नहीं हो जाता । अतः अनुच्छेद 164(4) किसी गैर-विधायक व्यक्ति की, भले की अल्प अवधि के लिए, नियुक्ति संबंधी शक्ति का स्रोत या समर्थकारी उपबंध नहीं है । वास्तव में यह किसी गैर-सदस्य के लिए, जिसे, यथा-स्थिति, मुख्य मंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया है, छह मास की निरन्तर अवधि के भीतर स्वयं को निर्वाचित कराए बिना पद पर बने रहने संबंधी निरर्हता या निर्बंधन की प्रकृति की उपबंध है ।"

न्यायालय ने कहा कि इंग्लैंड में स्थिति यह थी –

> "वैस्टमिनिस्टर पद्धति में यह एक स्थापित प्रथा है कि संसद् कार्यपालिका के नियंत्रक के रूप में अपनी स्थिति को बनाए रखती है । सुस्थापित प्रथा के अनुसार ऐसा व्यक्ति ही, जो हाउस ऑफ कामन में बहुमत का दावा करता है, सरकार बनाता है और प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया जाता है । साधारणतः वह और उसके मंत्री सदैव संसद्(हाउस ऑफ कामन या हाउस ऑफ लार्ड) के सदस्य होने चाहिएं और वे अपने क्रियाकलापों और नीतियों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं । किसी गैर-सदस्य को मंत्री बनाया जाना एक विरल अपवाद है और यदि ऐसा होता है तो वह अल्प अवधि के लिए होता है । संबंधित व्यक्ति या तो निर्वाचित हो जाता है या उसे आजीवन सदस्यता प्रदान कर दी जाती है ।"

न्यायालय ने उस सांविधानिक स्कीम का उल्लेख किया जिसमें लोकतंत्रात्मक संसदीय स्वरूप के बारे में उपबंध है, जिसमें लोगों के प्रतिनिधित्व, उत्तरदायी सरकार और विधानमंडल के प्रति मंत्रिपरिषद् की जवाबदेही की परिकल्पना होती है । इस प्रकार जनता से विधानमंडल की मार्फत कार्यपालिका तक प्राधिकार का सीधा संबंध स्थापित किया गया था । इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया और कनाडा में जो स्थिति है उससे यह दर्शित होता है कि प्रतिनिधि सरकार वाली पद्धति की आवश्यकताएं, जैसी कि वे भारत में हैं, ये थीं कि प्रायः सभी मंत्री विधानमंडल के सदस्यों में से चुने जाते थे और केवल विरल मामलों में ही किसी गैर-सदस्य व्यक्ति को मंत्री नियुक्त किया जाता था और उसे अल्प अवधि के भीतर स्वयं को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विधानमंडल में निर्वाचित कराना होता था । संविधान-निर्माताओं ने इस बात की कल्पना नहीं की थी कि किसी गैर-विधायक को निर्वाचित हुए बिना प्रत्येक बार छह मास की अवधि के लिए बार-बार मंत्री नियुक्त किया जा सकता था क्योंकि ऐसा करना संसदीय लोकतंत्र पर आघात करना होगा । तद्नुसार यह अभिनिर्धारित किया गया था कि तेज प्रकाश सिंह की दूसरी बार मंत्री के रूप में नियुक्ति अवैध और असांविधानिक थी ।

---

[1] 2001(5) स्केल 269.

20. द्वितीय प्रत्यर्थी के विद्वान् काउन्सेल श्री के. के. वेणुगोपाल का यह निवेदन सही था कि हमारे समक्ष जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह इससे पूर्व न्यायालयों के समक्ष कभी उद्भूत नहीं हुआ । इसी कारण इससे पूर्व, जहां तक ज्ञात है, ऐसे किसी व्यक्ति को जो विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए पात्र नहीं था, मंत्री नहीं बनाया गया है । निश्चित रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 8 के अंतर्गत दोषसिद्धि और दंडादेश से आरोपित किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त नहीं किया गया ।

21. हमारे समक्ष जो प्रश्न है, उसका उत्तर देने के लिए हमारी राय में अनुच्छेद 164 के तीन उप-अनुच्छेदों, अर्थात्, उप-अनुच्छेद (1), (2) और (4) को एक साथ पढ़ना आवश्यक है । उप-अनुच्छेद (1) के अनुसार राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करने के लिए सशक्त है, राज्यपाल के पास अन्य मंत्री को नियुक्त करने की भी शक्ति है किन्तु उसे इस संबंध में मुख्य मंत्री की सलाह पर कार्य करना होता है । उप-अनुच्छेद में यह उपबंध है कि जैसा कि प्रतिनिधि लोकतंत्र में आवश्यक है, मंत्रिपरिषद् संयुक्त रूप से राज्य की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है । इस प्रकार, राजनीतिक कार्यपालिका, अर्थात् मंत्रिपरिषद् को विधानसभा के माध्यम से राज्य के लोगों का, जिन्होंने विधानमंडल को चुना है, प्रतिनिधि और उसके प्रति उत्तरदायी बनाया गया है । इन उपबंधों में यह अपेक्षा आवश्यक रूप से विवक्षित है कि मंत्री को विधानसभा का सदस्य और इस प्रकार राज्य के लोगों का प्रतिनिधि और उनके प्रति उत्तरदायी होना चाहिए । उप-अनुच्छेद (4) ही राज्य विधानमंडल के सदस्य से भिन्न किसी व्यक्ति की मंत्री के रूप में नियुक्ति को अनुज्ञेय बनाता है किन्तु उसमें यह अनुबंध है कि ऐसा कोई मंत्री जो निरंतर छह मास की किसी अवधि के लिए विधानमंडल का सदस्य नहीं होता है, उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रहेगा । उप-अनुच्छेद (1) और उप-अनुच्छेद (2) के साथ पठित उप-अनुच्छेद (4) में आवश्यक रूप से विवक्षित अपेक्षा यह है कि ऐसा मंत्री जो विधानमंडल का सदस्य नहीं है, विधानमंडल में चुना जाना चाहिए और उसके द्वारा छह मास के भीतर विधानमंडल में स्थान पाने में असफल रहने पर वह मंत्री नहीं बना रहना चाहिए । उप-अनुच्छेद (4) की अपेक्षा ऐसी होने के कारण उससे यह परिणाम निकलता है कि उस दिन जिस व्यक्ति को मंत्री नियुक्त किया जाता है, यद्यपि वह विधानमंडल का सदस्य नहीं है, वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो विधानमंडल के निर्वाचन के लिए खड़ा हो सके और उप-अनुच्छेद (4) की अपेक्षा को पूरा कर सके । दूसरे शब्दों में, वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो संविधान(अनुच्छेद 173) में अंतर्विष्ट विधानमंडल की सदस्यता के लिए अर्हताएं पूरी करता हो और अपनी नियुक्ति की तारीख को उसके(अनुच्छेद 191) किसी उपबंध के कारण उस सदस्यता की ईप्सा करने से निरर्हित न हो ।

22. अनुच्छेद 164 के उप-अनुच्छेद (4) के उपबंध से ऐसी स्थिति की व्यवस्था अभिप्रेत है जहां राजनीतिक अत्यावश्यकता के कारण या किसी क्षेत्र में किसी विशेषज्ञ की सेवाएं लेने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को मंत्रिपरिषद् में शामिल करना अपेक्षित हो जो उस समय विधानमंडल का सदस्य न हो । यह बात एक अलंघ्य रुकावट नहीं होनी चाहिए कि वह विधानमंडल का सदस्य नहीं है । हम इस सीमा तक श्री वेणुगोपाल से सहमत हैं किन्तु हम उसके इस निवेदन को स्वीकार नहीं कर सकते कि उप-अनुच्छेद (4) को इस प्रकार पढ़ा जाना चाहिए कि उसमें मंत्रिपरिषद् में ऐसे अल्पकालिक मंत्रियों को शामिल करना अनुज्ञात है जिनका कार्यकाल छह मास के परे विस्तारित नहीं किया जाएगा और इसलिए जिनके पास क्रमशः अनुच्छेद 173 और 191 में अंतर्विष्ट अर्हताएं होना और निर्रहताओं से मुक्त होना आवश्यक नहीं है । उप-अनुच्छेद (4) में मंत्री के रूप में नियुक्त किए गए गैर-विधायक को विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए छह मास का समय दिया गया है । अतः गैर-विधायक आवश्यक रूप से ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उस समय जब उसकी नियुक्ति की जाए, विधानमंडल की सदस्यता प्राप्त करने के लिए विवर्जित न हो ; वह निश्चित रूप से ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो विधानमंडल का चुनाव लड़ने के लिए अर्हित हो और ऐसा करने के लिए निर्रहित न हो । उप-अनुच्छेद (4) का आशय किसी व्यक्ति को छह मास या उससे कम अवधि के लिए इस प्रकार मंत्रिपरिषद् में शामिल करना नहीं है कि जिससे कि यह महत्वपूर्ण बात न हो कि वह विधानमंडल का निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र नहीं है ।

23. यह निष्कर्ष निकालना अयुक्तियुक्त और असंगत होगा कि ऐसे किसी मंत्री के लिए, जो विधानमंडल का

सदस्य है, यह अपेक्षित हैं कि वह अर्हता और निरर्हता संबंधी सांविधानिक मानकों को पूरा करें किन्तु जो मंत्री विधानमंडल का सदस्य नहीं है उससे ऐसी अपेक्षा नहीं है । तर्कसंगत रूप से ऐसे किसी मंत्री से, जो सदस्य नहीं है, यह प्रत्याशा है कि वह भी कम से कम उन्हीं मानकों को अवश्य पूरा करे, जो किसी सदस्य से अपेक्षित है ।

24. संविधान सभा बहस(खंड 7) में यह उल्लेख है कि जब संविधान सभा द्वारा संसद् संदस्यों से संबंधित तत्स्थानी उपबंध में विचार-विमर्श किया जा रहा था, तब डा. बी. आर. अम्बेडकर ने यह कहा : -

> " ....पहले संशोधन का सुझाव श्री मोहम्मद ताहिर द्वारा दिया गया । उनका सुझाव यह है कि किसी व्यक्ति को तब तक मंत्री नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि वह नियुक्ति के समय सदन का निर्वाचित सदस्य न हो । उन्होंने परन्तुक के अंतर्गत आने वाले मामलों की संभाव्यता को स्वीकार नहीं किया, अर्थात्, यह कि यद्यपि कोई व्यक्ति अपनी नियुक्ति के समय सदन का सदस्य नहीं है, फिर भी उसे इस शर्त के अधीन रहते हुए मंत्रिमंडल में मंत्री के रूप में नियुक्त किया जा सकता है कि वह छह मास के भीतर स्वयं को सदन का सदस्य निर्वाचित करा लेगा । तीसरी शर्त प्रोफेसर के. टी. शाह द्वारा लगाई गई । उन्होंने यह कहा कि मंत्री बहुमत वाले दल का होना चाहिए और उनकी तीसरी शर्त यह है कि उसकी कतिपय शैक्षिक हैसियत होनी चाहिए । अब हम प्रथम मुद्दे पर विचार करते हैं, अर्थात्, कोई भी व्यक्ति तब तक मंत्री नियुक्त किए जाने का पात्र नहीं होगा जब तक कि वह नियुक्ति के समय सदन का निर्वाचित सदस्य नहीं है । मेरे विचार से इसमें कतिपय ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर विचार न करने की भूल की है जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता । उनमें से प्रथम यह है कि यह कल्पना करना पूर्णतः संभव है कि ऐसा कोई व्यक्ति, जो मंत्री का पद धारण करने के लिए अन्यथा सक्षम हो किसी ऐसे कारण से, जो यद्यपि सही हो सकता है, निर्वाचन-क्षेत्र के लोग नाराज़ होने के कारण किसी निर्वाचन-क्षेत्र में पराजित हो गया हो और उसे उस विशिष्ट निर्वाचन-क्षेत्र की नाराजगी सहन करनी पड़ी हो । ऐसा कोई कारण नहीं है कि मंत्रि-परिषद् का कोई सदस्य इस उपधारणा पर कि वह स्वयं को उसी निर्वाचन-क्षेत्र या किसी अन्य निर्वाचन-क्षेत्र से निर्वाचित कराने में समर्थ होगा । फिर भी जो विशेषाधिकार अनुज्ञात किया गया है वह ऐसा विशेषाधिकार है जो केवल छह मास तक प्राप्त है । यह उस व्यक्ति को सदन में निर्वाचित हुए बिना बैठने का अधिकार नहीं प्रदत्त करता ।"..... (बल देने के लिए रेखांकित)

25. डा. बी. आर. अम्बेडकर द्वारा जो कुछ कहा गया था वह स्वतः स्पष्ट है । इससे स्पष्टतः दर्शित होता है कि संविधान सभा ने यह परिकल्पना की थी कि गैर-विधायक मंत्रियों को छह मास के भीतर विधानमंडल के लिए निर्वाचित होना पड़ेगा और यह इस आधार पर है कि उस अनुच्छेद को पढ़ने से उसमें यही अपेक्षित है । वह रीति जिसमें हमने अनुच्छेद 164 का निर्वचन किया इस प्रकार उत्पन्न हुई ।

26. प्रत्यर्थियों की ओर से यह निवेदन किया गया कि न्यायालय अनुच्छेद 164 का निर्वचन इस अपेक्षा के रूप में करने के लिए स्वतंत्र नहीं है कि कोई गैर-विधायक मंत्री छह मास के भीतर विधानमंडल में निर्वाचित अवश्य हो जाना चाहिए । यह निवेदन किया गया कि किसी सांविधानिक उपबंध का किन्हीं अर्हताओं या निरर्हताओं के रूप में निर्वचन नहीं किया जा सकता । **महामहिम केशवानन्द भारती श्री पदगालवरु** बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में दिए गए निर्णय के कुछ उद्दरणों का अवलंब लिया गया ।

27. हमने अनुच्छेद 164 का निर्वचन उसकी भाषा के आधार पर किया है और उप-अनुच्छेद (4) को उप-अनुच्छेद (1) और (2) के संदर्भ में पढ़ा है । किसी भी दशा में उप-अनुच्छेद (4) का निर्वचन उप-अनुच्छेद (1) और (2) की भाषा पर आधारित परिसीमाओं के रूप में करना अनुज्ञेय है ।

28. **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ ने

---

[1] [1973] 2 उम. नि. प. 159 = [1973] सप्ली. एस. सी. आर. 1.

[2] [1981] 3 उम. नि. प. 146 = [1981] 1 एस. सी. आर. 206.

केशवानन्द भारती[1] वाले मामले में दिए गए निर्णय पर कुछ विस्तार से विचार किया । यह संविधान न्यायपीठ संविधान(बयालीसवां संशोधन) अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में पुरःस्थापित खंडों की विधिमान्यता पर विचार कर रही थी । उनमें यह उपबंध था -

> "(4) इस संविधान का(जिसके अंतर्गत भाग 3 के उपबंध हैं) इस अनुच्छेद के अधीन [संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 55 के प्रारंभ से पहले या उसके पश्चात्] किया गया या किया गया तात्पर्यित कोई संशोधन किसी न्यायालय में किसी भी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा ।
>
> (5) शंकाओं को दूर करने के लिए यह घोषित किया जाता है कि इस अनुच्छेद के अधीन इस संविधान के उपबंधों का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करने के लिए संसद् की संविधायी शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बन्धन नहीं होगा ।"

मुख्य न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने अपने निर्णय में यह उल्लेख किया कि इसका वचनबद्ध प्रयोजन "सन्देहों का निवारण" है। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि **केशवानन्द भारती**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के पश्चात् संविधान को संशोधित करने की संसद् की शक्ति पर निर्बन्धनों की विधिमान्यता के बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता । अनुच्छेद 368 के सांविधानिक इतिहास के संदर्भ में, अनुच्छेद 368 में अंतर्विष्ट घोषणा का सही उद्देश्य उन निर्बंधनों को दूर करना है । खंड (5) संसद् को संविधान को संशोधित करने की अतिव्यापक तथा अनियंत्रित शक्ति प्रदान करता है, भले ही उसकी वास्तविकता को विक्रीत क्यों न कर दिया जाए । **केशवानन्द भारती** वाले मामले में बहुमत के विनिश्चय का प्रमुख सूत्र यह है – 'संविधान के निर्माताओं ने जिस निष्ठावान दस्तावेज को आपकी देखरेख में रखा था उसे आप चाहे किसी भी रीति में संशोधित करें क्योंकि आप ही को इस बात का सर्वोत्तम ज्ञान है कि आपकी पीढ़ी की क्या आवश्यकताएं हैं । किन्तु संविधान एक मूल्यवान परम्परागत वस्तु है, इसलिए आप उसकी अनन्यता को विनष्ट नहीं कर सकते ।' **केशवानन्द भारती** वाले मामले में दिए गए बहुमत निर्णय द्वारा संसद् को संविधान में परिवर्तन करने के अधिकार का सौंपा जाना स्वीकार कर लिया गया था जब तक कि ऐसे परिवर्तन उसके आधारभूत ढांचे के अंतर्गत रहते हैं । प्रस्तावना भारत के लोगों को इस बात के लिए आश्वस्त करती है कि एक ऐसी नीति प्रदान की गई है जिसका आधारभूत ढांचा प्रभुत्वसंपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य के रूप में उसमें वर्णित किया गया है ; संसद् संविधान में ऐसे कोई भी संशोधन कर सकती है जैसे कि वह समीचीन समझती है जब तक कि वे भारत की प्रभुत्ता और उसके लोकतंत्रात्मक और गणतंत्रात्मक स्वरूप को हानि नहीं पहुंचाते या उसे विनष्ट नहीं करते । लोकतंत्र एक सार्थक अवधारणा है जिसके आवश्यक तत्वों को स्वयं प्रस्तावना में वर्णित किया गया है: सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्यायः विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता; तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समता । जैसा कि प्रस्तावना में ही आगे उपवर्णित किया गया है, उसका उद्देश्य भारत के लोगों में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाना है । नव पुरःस्थापित खंड (5) उन स्तंभों को ही धराशाही कर देता है जिन पर कि प्रस्तावना आश्रित है क्योंकि उसमें संसद् को वह शक्ति प्रदत्त की गई है कि वह अपनी संविधायी शक्ति की प्रयोग किसी भी परिसीमा के बिना कर सकती है । किसी भी संविधायी शक्ति के बारे में यह सोचा भी नहीं जा सकता कि वह खंड (5) द्वारा प्रदत्त शक्ति से ऊंची बन सकती है क्योंकि यह तो स्वयं संसद् को ही संविधान को उपबंधों को निरसित करने के लिए सशक्त करती है, अर्थात्, लोकतंत्र को निराकृत कर दिया जाए और उसके स्थान पर सर्वथा विरोधी सरकार खड़ी कर दी जाए । अत्यन्त प्रभावशाली रूप से उसे जनता को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय का सर्वथा प्रत्याख्यान करते हुए, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वाधीनता को पंगु बनाते हुए तथा समान व्यक्तियों के समाज के उदात्त आदर्श के प्रति वचनदान का परित्याग करते हुए, लोकतंत्र को किसी भी अन्य नाम से पुकारते हुए, ग्रहण किया जा सकता है । विनष्ट करने की शक्ति संशोधित करने की शक्ति नहीं है । चूंकि संविधान द्वारा संसद् को

---

[1] [1973] 2 उम. नि. प. 159 = [1973] सप्ली. एस. सी. आर. 1.

सीमित संशोधन शक्ति प्रदत्त की गई थी इसलिए संसद् उस सीमित शक्ति का प्रयोग करते हुए उसी शक्ति को आत्यांतिक शक्ति के रूप में विस्तृत नहीं कर सकती । सीमित संशोधन शक्ति हमारे संविधान का एक मूल लक्षण है और इसलिए उस शक्ति पर लगाई गई की सीमाएं विनष्ट नहीं की जा सकतीं । दूसरे शब्दों में, संसद्, अनुच्छेद 368 के अधीन, अपनी संशोधन शक्ति का विस्तार इस रूप में नहीं कर सकती कि वह संविधान को निरसित अथवा निराकृत करने या उसके मूलभूत और आवश्यक लक्षणों को विनष्ट करने का अधिकार स्वयं अर्जित कर ले । सीमित शक्ति से संपन्न व्यक्ति उस शक्ति के प्रयोग द्वारा सीमित शक्ति को असीमित शक्ति के रूप में परिवर्तित नहीं कर सकता ।

29. यह सब कुछ अनुच्छेद 368(1) और (5) के संबंध में कहा गया था । उप-अनुच्छेद (1) इस प्रकार है –

"368. संविधान का संशोधन करने की संसद् की शक्ति और उसके लिए प्रक्रिया –

(1) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद् अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी ।"

संविधान की भाषा और स्कीम तथा उसके मूलभूत ढांचे पर आधारित परिसीमाओं का न्यायालय के लिए अनुज्ञेय निर्वचन से बेहतर कोई और निर्वचन प्रदर्शित नहीं हो सकता ।

30. अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि किसी गैर-विधायक को अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री या मंत्री केवल तभी बनाया जा सकता है यदि उसके पास अनुच्छेद 173 द्वारा विहित विधानमंडल की सदस्यता के लिए अर्हताएं हों और उसे अनुच्छेद 191 में उपवर्णित निरर्हताओं के आधार पर उसकी सदस्यता से निरर्हित न किया गया हो ।

31. अगला प्रश्न यह है कि क्या द्वितीय प्रत्यर्थी, जब उसे 14 मई, 2001 को मुख्य मंत्री नियुक्त किया गया था, विधान मंडल की सदस्यता के लिए अर्हित थी और उसके लिए निरर्हित नहीं ठहराया गया था ।

32. प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल द्वारा यह निवेदन किया गया कि मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध पारित दंडादेशों का निलंबन उसके विरुद्ध दोषसिद्धियों के निलंबन की कोटि में आता था । इसके पश्चात् हमारा ध्यान लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) की ओर आकृष्ट किया गया जिसमें यह कहा गया है कि "कोई व्यक्ति, जो अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया है और दो वर्ष से अन्यून के कारावास से दंडादिष्ट किया गया है, निरर्हित होगा.........." । विद्वान् काउन्सेल के निवेदन के अनुसार धारा 8(3) के प्रयोजनों के लिए केवल दंडादेश ही सुसंगत है और यदि दंडादेश निलंबित रखा जाता है तो वह निरर्हता का भी निलंबन होगा । द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध पारित दंडादेश निलंबित हो जाने के कारण धारा 8(3) के अधीन निरर्हता भी, जहां तक वह उसे लागू होती है, निलंबित हो गई थी ।

33. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389, जिसके आधार पर मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा द्वितीय प्रत्यर्थी को जमानत पर छोड़ा गया था, जहां तक वह सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में है –

"389. अपील के लंबित रहने तक दंडादेश का निलंबन; अपीलार्थी का जमानत पर छोड़ा जाना –

(1) अपील न्यायालय, ऐसे कारणों से, जो उसके द्वारा अभिलिखित किए जाएंगे, आदेश दे सकता है कि उस दंडादेश या आदेश का निष्पादन जिसके विरुद्ध अपील की गई है, दोषसिद्ध व्यक्ति द्वारा की गई अपील के लंबित रहने तक निलंबित किया जाए और यदि वह व्यक्ति परिरोध में है तो यह भी आदेश दे सकता है कि उसे जमानत पर या उसके अपने बंधपत्र पर छोड़ दिया जाए।" (बल देने के लिए रेखांकित)

34. यह सही है कि द्वितीय प्रत्यर्थी के आवेदन पर किए गए मद्रास उच्च न्यायालय के आदेश में यह कहा गया

है "दांडिक अपीलों के लंबित रहने तक केवल कारावास का दंडादेश ही निलंबित किया जाता है और याचियों को जमानत पर छोड़ दिया जाए........." , किन्तु इसे धारा 389 के संदर्भ में पढना होगा जिसके अधीन शक्ति का प्रयोग कया गया था । धारा 389 के अधीन कोई अपील न्यायालय यह आदेश दे सकता है कि "उस दंडादेश या आदेश का निष्पादन, जिसके विरुद्ध अपील की गई है, निलंबित किया जाए......" दंडादेश को निलंबित करना अपील न्यायालय की शक्ति के अंतर्गत नहीं आता; वह केवल अपील के निपटारा होने तक दंडादेश के निष्पादन को निलंबित कर सकता है । दंडादेश के निष्पादन के निलंबन से इस तथ्य में कोई परिवर्तन या प्रभाव नहीं पड़ता कि अपराधी को गंभीर अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है और उस पर दो वर्ष से अन्यून अवधि के कारावास का दंडादेश अधिरोपित किया गया है। अतः, दंडादेशों के निष्पादन के निलंबन से द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध निरर्हता समाप्त नहीं हो जाती । दंडादेश का निलंबन जैसा कि उसका मद्रास उच्च न्यायालय ने गलत रूप से कथन किया है, वस्तुतः द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपीलों का निपटारा होने तक दंडादेशों के निष्पादन का निलंबन था । इस तथ्य से उस पर अधिरोपित दोषसिद्धियों और दंडादेशों में कोई परिवर्तन या प्रभाव नहीं पड़ता कि उसने अपने विरुद्ध दंडादेशों के निष्पादन का निलंबन प्राप्त कर लिया और वह धारा 8(3) के अधीन विधायी पद प्राप्त करने के लिए निरर्हित रही ।

35. इसी संबंध में, प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल ने द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध दोषसिद्धि के आदेशों के निष्पादन को स्थगित करने संबंधी उसके आवेदन पर मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश न्यायमूर्ति मलई सुब्रमण्यम् के निर्णय की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। विद्वान न्यायाधीश ने लोक प्रतिनिधत्व अधिनयम की धारा 8 का विश्लेषण किया ओर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे :–

> "इस मामले में कारावास के दंडादेश को पहले ही निलंबित किया गया है। मेरी राय में, इन परिस्थितयों में याची के लिए निर्वाचन लड़ने के संबंध में कोई निरर्हता नहीं हो सकती।"

विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि इस निष्कर्ष के कारण विद्वान न्यायाधीश ने आदेशों का निष्पादन नहीं रोका था और राज्यपाल उसके निष्कर्ष के कारण बाध्य हुए। प्रथमतः विद्वान न्यायाधीश द्वारा इस उपबंध का निर्वचन, जैसा कि ऊपर दर्शित किया गया है, गलत है। द्वितीयतः, आदेशों के निष्पादन पर रोक लगाने से उसके इनकार करने का कारण यह था क्योंकि द्वितीय प्रत्यर्थी को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अधीन अपराधों का दोषी पाया गया था। तृतीयतः, आवेदन द्वारा विद्वान न्यायाधीश से यह अपेक्षा की गई थी कि वह क्या द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध आदेशों के निष्पादन पर रोक लगाई जानी चाहिए अथवा नहीं ; लोक प्रतिनिधत्व अधिनियम की धारा 8 के उपबंधों पर विचार करना और उनके संबंध में अपना निष्कर्ष निकालना पूर्णतः उस विवाद्यक के अंतर्गत नहीं आता था। चतुर्थतः, यह निष्कर्ष अस्थायी था, जैसा कि उसके निर्णय के ऊपर उद्धृत पद्यांश में 'सकती' (में) शब्द के प्रयोग से उपदर्शित होता है। अंततः, जैसा कि दर्शित होगा, इस मामले में हमारा संबंध इस बात से नहीं है कि राज्यपाल ने क्या किया अथवा क्या नहीं किया, हमारा संबंध इस बात से है कि क्या द्वितीय प्रत्यर्थी यह दर्शित कर सकती है कि जब उसे मुख्य मंत्री नियुक्त किया गया तब वह अनुच्छेद 173 के लिए विवाद्यक बनने के लिए अर्हित थी और अनुच्छेद 191 के अधीन निरर्हित नहीं थी ।

36. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8 की उपधारा (1), (2) और (3) में निरर्हता की अवधियों में अंतर के संबंध में **रघबीर सिंह** बनाम **सुरजीत सिंह**[1] वाले मामले में उठाए गए और नामंजूर किए गए तर्क के समरूप एक तर्क दिया गया था। इस न्यायालय ने उस मामले में यह कहा :–

> "5. धारा 8 में कतिपय अपराधों के लिए दोषसिद्धि के आधार पर निरर्हता विहित की गई है। उपधारा (1) में यह उपबंध किया गया है कि खण्ड (क) से (त) तक में विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए दोषसिद्धि की तारीख से 6 वर्ष की अवधि तक निरर्हता विहित की गई है। उपधारा (1) में विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए दोषसिद्धि के प्रति

[1] [1995] 1 उम. नि. प. 141 = (1994) सप्ली. 3 एस. सी. सी. 162.

निर्देश किया गया है चाहे ऐसी दोषसिद्धि पर कोई भी दंडादेश किया गया हो । इसके बाद उपधारा (2) में यह विहित किया गया है कि उस में विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए दोषसिद्धि और 6 मास से अन्यून अवधि के लिए कारावास से दंडादिष्ट किए जाने पर वह व्यक्ति ऐसी दोषसिद्धि की तारीख से निरर्हित होगा और निर्मुक्त किए जाने की तारीख से 6 वर्ष की दीर्घतर अवधि के लिए निरर्हित बना रहेगा। इस प्रकार उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट अपराधों के लिए दोषसिद्धि के मामले में निरर्हता का आश्रय तभी लिया जा सकता है। यदि दंडादेश 6 मास से अन्यून अवधि के कारावास का है और उस दशा में निरर्हता न केवल दोषसिद्धि की तारीख से 6 वर्ष की अवधि बल्कि ऐसी दोषसिद्धि की तारीख से आरंभ होकर उसे निर्मुक्त किए जाने की तारीख से 6 वर्ष की दीर्घतर अवधि तक बनी रहेगी । इसके बाद उपधारा (3) में समान रूप से निरर्हता की दीर्घतर अवधि विहित की गई है जो ऐसी दोषसिद्धि की तारीख से आरंभ होकर निर्मुक्त किए जाने की तारीख से और 6 वर्ष की दीर्घतर अवधि तक बनी रहेगी । जहां किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध किया गया है और दो वर्ष से अन्यून अवधि के कारावास से दंडित किया गया है जो ऐसा अपराध से भिन्न है जो उपधारा (1) या उपधरा (2) में निर्दिष्ट किया गया है । यह वर्गीकरण स्पष्ट है। यह वर्गीकरण अपराधों और उनके लिए की गई दोषसिद्धि पर दिए गए दंडादेश पर आधारित है। उपधरा (1) में उन अपराधों को विनिर्दिष्ट किया गया है जिन्हें इस प्रवर्ग का समझा जाता है और निरर्हता की अवधि दोषसिद्धि की तारीख से 6 वर्ष के लिए थी चाहे ऐसी दोषसिद्धि पर दिया गया दंडादेश किसी भी प्रकार का क्यों न हो। उपधारा (2) में कुछ अन्य प्रकार के अपराध विनिर्दिष्ट किए गए हैं जिनके लिए दोषसिद्धि को निरर्हता के लिए महत्वपूर्ण समझा गया है अर्थात् यदि दंडादेश 6 मास से अन्यून अवधि के कारावास के लिए है और उस मामले में निरर्हता की दीर्घतर अवधि विहित करना उचित समझा गया। इसके बाद उपधरा (3) आती है जो इस वर्ग में अवशिष्ट उपबंध है जिसमें निरर्हता केवल कारावास के दंडादेश की अवधि के प्रतिनिर्देश से विहित की गई जो दो वर्ष से अन्यून के लिए हो जिसके लिए निरर्हता की दीर्घतर अवधि विहित करना समुचित समझा गया है। विधानमंडल ने उनकी प्रकृति के आधार पर अपराधों का वर्गीकरण किया है और अवशिष्ट उपबंध में जो उपधारा (3) में अन्तर्विष्ट है वर्गीकरण दंडादेश के प्रतिनिर्देश से किया गया है जो दो वर्ष की अवधि से अन्यून हो।

6. धारा 8 की उपधारा (3) में किसी अपराध के लिए सिद्धदोष किए गए और दो वर्ष से अन्यून अवधि के लिए उपधरा (1) या उपधारा (2) में निर्दिष्ट अपराधों से भिन्न के लिए दंडादिष्ट किए गए व्यक्तियों को साथ-साथ वर्गीकृत किया गया है और उन सब के लिए निरर्हता की विहित की गई अवधि एक समान है। उपधारा (1) या उपधारा (2) में निर्दिष्ट अपराधों से भिन्न अपराध के लिए दोषसिद्ध किए गए सभी व्यक्ति जिन्हें दो वर्ष से अन्यून अवधि के लिए दंडादिष्ट किया गया है एक ही वर्ग में आते हैं और वे उपधरा (3) से नियंत्रित होते हैं जो उन सभी के लिए निरर्हता की समान अवधि विहित की है । उपधरा (1) और उपधारा (3) के अधीन आने वाले प्रवर्ग के व्यक्ति अलग और सुभिन्न कोटि में आते हैं। इन तीन सुभिन्न वर्गों के बीच परस्पर तुलना का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है। इन विभिन्न उपधाराओं द्वारा नियंत्रित होने वाले व्यक्ति के बीच बिना तुलना अनुज्ञेय न होने से इस प्रश्न पर किए गए आक्षेप का आधार जो भेदभाव पर आधारित है उपलब्ध नहीं हो सकता। विभिन्न अपराधों के लिए सिद्धदोष किए गए व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न वर्गों के लिए निरर्हता की भिन्न अवधि विहित किया जाना विधानमण्डल के विवेकाधिकार और उसकी सूझ-बूझ के क्षेत्र में आता है जिसकी संवीक्षा न्यायालय नहीं कर सकता।"

37. प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा यह मत व्यक्त किया गया कि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के अधीन निरर्हता उस तारीख को लागू होगी जिसको किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाता है और दो वर्ष से अन्यून के कारावास से दंडादिष्ट किया जाता है । यह ठीक ही मत व्यक्त किया गया था कि विधि में यह अनुध्यात था कि दोषसिद्धि और दंडादेश विभिन्न तारीखों को हो सकते थे । यह निवेदन किया गया कि यह असंभव था कि निरर्हता दोषसिद्धि की तारीख से लागू होनी चाहिए जो कि दंडादेश से पूर्व हो सकती है, इसलिए धारा 8(3) में निर्दिष्ट दोषसिद्धि को ऐसी दोषसिद्धि मानना चाहिए जो कि अपील न्यायालय द्वारा पुष्ट हो गई हो

क्योंकि अपील न्यायालय में ही दोषसिद्धि और दंडादेश एक ही दिन हो सकते हैं । हम इस तर्क को अमान्य पाते हैं । उन मामलों में, जिनमें दंडादेश, दोषसिद्धि की तारीख के पश्चात् किसी दिन अधिरोपित किया जाता है(जो कि आनुषंगिक रूप से इस मामले में नहीं हुआ) निरर्हता उस तारीख को लागू होगी जिसको दंडादेश अधिरोपित किया गया था क्योंकि केवल तभी कोई व्यक्ति अपराध के लिए दोषसिद्ध और दो वर्ष से अन्यून के कारावास से दंडादिष्ट होगा, जैसा कि धारा 8(3) के अधीन निरर्हता लागू करने के लिए संचयी रूप से अपेक्षित है ।

38. इसके पश्चात्, केन्द्र-बिन्दु लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(4) की ओर मोड़ा गया और यह दलील दी गई कि धारा 8 में उल्लिखित सभी निरर्हताएं तब तक लागू नहीं होंगी जब तक कि अंतिम न्यायालय ने दोषसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि न कर दी हो । इसी कारण से धारा 8(4) में दिए गए सिद्धांत को गैर-विधायक तक विस्तारित किया गया अन्यथा अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता क्योंकि निर्दोषिता की उपधारणा आसीन सदस्य के मामले में तब तक लागू होगी जब तक उसकी दोषसिद्धि की अंतिम रूप से अभिपुष्टि नहीं की जाती किन्तु किसी गैर-विधायक के मामले में निरर्हता न्यायालय द्वारा प्रथम प्रक्रम पर दोषसिद्ध किए जाने से लागू होगी । यह निवेदन किया गया था कि धारा 8(4) का पठन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि उसके उपबंध आसीन सदस्यों तक निर्बंधित न हो जाएं और सभी मामलों में निरर्हता तभी लागू होगी जब दोषसिद्धि और दंडादेश को अंततः कायम रखा जाता है ।

39. धारा 8(4) "उपधारा (1), (2) और (3) में किसी बात के होते हुए भी" शब्दों से प्रारंभ होती है और यह विधानमंडल के केवल आसीन सदस्यों को लागू होती है । इस आधार पर इसे चुनौती नहीं दी गई कि इससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है । यदि ऐसा अतिक्रमण हुआ था तो इस दलील के आधार पर यह मान्य होगा कि विधायक और गैर-विधायक पृथक्-पृथक् वर्ग में आते हैं किन्तु हमें इस संबंध में कोई अंतिम राय अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है । किसी भी दशा में, यदि इसे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी पाया जाता है तो इसे संपूर्ण रूप से अभिखंडित किया जाएगा । इसलिए इसका इस प्रकार पठन करने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता कि इसके उपबंध सभी विधायकों और गैर-विधायकों को लागू होते हैं और इसलिए सभी मामलों में निरर्हता लागू करने से पहले अंतिम न्यायालय द्वारा दोषसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि की प्रतीक्षा करनी होगी । यह उपबंध का पठन करना होगा न कि उसकी संवीक्षा करना जो कि विधि के अनुसार ज्ञात नहीं है ।

40. उसी प्रवृत्ति में यह निवेदन किया गया था कि निर्दोषिता की उपधारणा तब तक बनी रही जब तक कि दोषसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि करने संबंधी अंतिम निर्णय पारित नहीं किया गया और इसलिए द्वितीय प्रत्यर्थी के विरुद्ध निरर्हता अब तक लागू नहीं हुई थी । इससे पूर्व कि हम इस निवेदन के समर्थन में अवलंब लिए गए चार निर्णयों का उल्लेख करें, हमें सन्देह को दूर कर देना चाहिए । जब कोई निचला न्यायालय किसी अभियुक्त को दोषसिद्ध ठहराता है और उसे दंडादिष्ट करता है तो यह उपधारणा समाप्त हो जाती है कि अभियुक्त निर्दोष है । दोषसिद्धि प्रवर्तित हो जाती है और अभियुक्त को दंडादेश भोगना होता है । किसी अपील न्यायालय द्वारा दंडादेश के निष्पादन पर रोक लगाई जा सकती है और अभियुक्त को जमानत पर छोड़ा जा सकता है । अनेक मामलों में अभियुक्त को इसलिए जमानत पर छोड़ दिया जाता है ताकि अपील कम से कम भागतः इस कारण निष्फल न हो जाए कि अभियुक्त ने कारावास पहले ही भुगत लिया है । यदि अभियुक्त की अपील सफल होती है तो दोषसिद्धि इस प्रकार समाप्त हो जाती है मानो यह कभी विद्यमान थी ही नहीं और दंडादेश अपास्त हो जाता है । किसी सफल अपील का अर्थ यह है कि अपराध का लांछन बिल्कुल ही समाप्त हो गया है । किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि निर्दोषिता की उपधारणा विचारण न्यायालय द्वारा दोषसिद्धि के पश्चात् भी बनी रहती है । इसमें अंतर्वलित दोषसिद्धि और दंडादेश अभियुक्त के विरुद्ध तब तक पूरी तरह प्रवर्तित होती है जब तक कि इसे अपील में अपास्त नहीं कर दिया जाता और दोषसिद्धि और दंडादेश से संलग्न निरर्हता भी प्रवर्तित रहती है ।

41. विद्वान् काउन्सेल ने **पदम सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय में से उद्धरण प्रस्तुत किया, जो कि निम्नलिखित रूप में है :–

> "अपील न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह मामले में पेश किए गए साक्ष्य की परीक्षा करे और इस संबंध में किसी स्वतंत्र निष्कर्ष पर पहुंचे कि क्या उक्त साक्ष्य का अवलंब लिया जा सकता है अथवा नहीं और यदि उसका अवलंब लिया जा सकता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि उक्त साक्ष्य के आधार पर अभियोजन युक्तियुक्त सन्देह से परे साबित हो गया है ।" (पृष्ठ 625'सी')

यह उद्धरण किसी अपील न्यायालय के कर्तव्य के संबंध में सुसंगत है । अपील न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह इस बात की परीक्षा करने के लिए साक्ष्य का नए सिरे से मूल्यांकन करे कि क्या अभियुक्त के विरुद्ध मामला अभियोजन-पक्ष द्वारा युक्तियुक्त संदेह से परे साबित कर दिया गया है और उसे विचारण न्यायालय के निर्णय से प्रभावित नहीं होना चाहिए, दूसरे शब्दों में, उसकी इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिए मानो निर्दोषिता की उपधारणा अभी भी अभियुक्त के मामले में लागू होती है । यह उद्धरण उस प्रतिपादना का समर्थन नहीं करता जिसके बारे में बहस की गई है ।

42. **मारू राम** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2] वाले मामले में यह कहा गया था :–

> "...... जब किसी व्यक्ति को अपील में दोषसिद्ध ठहराया जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अपील न्यायालय ने मूल न्यायालय के स्थान पर अपनी शक्ति का प्रयोग किया है और दोषिता, दोषसिद्धि और दंडादेश प्रतिस्थापित किए जाने चाहिएं और उनका विचारण न्यायालय के निर्णय की तारीख से पूर्व-व्यापी प्रभाव होगा । अपीली दोषसिद्धि विचारण न्यायालय के निर्णय की तारीख से प्रभावित होनी चाहिए और उसे प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए ।"

जो कुछ ऊपर उपवर्णित किया गया है उसकी शुद्धता के बारे में कोई संदेह नहीं है किन्तु यह हमारे समक्ष वाले मामले को लागू नहीं होता । हमारा संबंध इस बात से है कि क्या द्वितीय प्रत्यर्थी उस तारीख को जिसको उसे मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई थी, अपने विरुद्ध पारित दोषसिद्धियों और दंडादेशों के कारण निरर्हता से ग्रस्त थी ।

43. **दिलीप कुमार शर्मा और अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय का संबंध भारतीय दंड संहिता की धारा 303 से था, जिसमें यह उपबंधित था – "जो कोई आजीवन कारावास के दंडादेश के अधीन होते हुए हत्या करेगा, वह मृत्यु से दंडित किया जाएगा ।" न्यायमूर्ति सरकारिया ने अपने सम्मत निर्णय में धारा का निर्वचन करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि जब एक बार यह साबित कर दिया जाता है कि हत्या कारित करते समय बंदी आजीवन कारावास के दंडादेश के अधीन था तो न्यायालय के पास दंडादेश कम करने वाली परिस्थितियों के होते हुए भी मृत्यु दंडादेश पारित करने के अतिरिक्त कोई और विवेकाधिकार नहीं था । अतः यह उपबंध अपनी कठोरता के कारण क्रूर है । इन्हीं परिस्थितियों में उन्होने यह अभिनिर्धारित किया कि " आजीवन कारावास के दंडादेश के अधीन होते हुए" वाक्यांश को ऐसे दंडादेश तक निर्बंधित करना होगा जो कि, जहां तक न्यायिक उपचारों का संबंध है, अंतिम निश्चायक और आखिरी है क्योंकि अन्य अनुकल्प से अयुक्तियुक्त और अन्यायपूर्ण परिणाम ही निकलेंगे । विद्वान न्यायाधीश की ये मताभिव्यक्तियां उनके समक्ष वाले मामले के लिए सुसंगत हैं और उनकी व्यापक विवक्षाएं नहीं हैं और उनका अर्थ यह नहीं है कि किसी विचारण न्यायालय द्वारा की गई सभी दोषसिद्धियां तब तक प्रवर्तित नहीं होती जब तक कि उनकी उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि नहीं कर दी जाती ।

---

[1] (2000) 1 एस. सी. सी. 621.

[2] [1981] 4 उम. नि. प. 165 = (1981) 1 एस. सी. सी. 107.

[3] [1976] 3 उम. नि. प. 883 = (1976) 1 एस. सी. सी. 560.

44. अंततः, इस संबंध में हमारा ध्यान **विद्या चरण शुक्ल** बनाम **पुरषोत्तम लाल कौशिक**[1] वाले मामले की ओर आकृष्ट किया गया । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यदि कोई सफल अभ्यर्थी अपने निर्वाचन की तारीख को या निर्वाचन प्रक्रिया के किसी चरण की किसी पूर्व स्थिति पर अपनी दोषसिद्धि या दो वर्षों से अधिक के कारावास के कारण निरर्हित हो जाता है किन्तु उसकी दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त कर दिया जाता है और वह उसके विरुद्ध लंबित निर्वाचन अर्जी में निर्णय की उद्घोषणा से पूर्व अपील में दोषमुक्त कर दिया जाता है तो उसकी निरर्हता भूतलक्षी प्रभाव से बातिल हो जाती है और इस आधार पर उसके निर्वाचन को चुनौती बनी नहीं रहती कि वह इस प्रकार से निरर्हित था । इस मामले में एक निर्वाचन अर्जी के संबंध में कार्यवाही की गई थी और इसका इसी प्रकाश में अर्थ लगाया जाना चाहिए । इसमें जो कुछ अधिकथित किया गया है उसका हमारे समक्ष वाले प्रश्न से कोई संबंध नहीं है क्योंकि इस मामले में अनुच्छेद 164 का अर्थान्वयन विवादग्रस्त नहीं है । इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि किसी आपराधिक मामले में अपील में दोषमुक्ति भूतलक्षी रूप से लागू होती है और वह निचले न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत दंडादेश को समाप्त कर देती है । इससे यह विवक्षित है कि दोषसिद्धि से संबद्ध लांछन और दंडादेश की कठोरता पूर्णतः विलुप्त हो जाती है किन्तु इसका अभिप्रायः यह नहीं है कि निचले न्यायालय द्वारा दोषसिद्ध और दंडादिष्ट करने का तथ्य तब तक विलुप्त नहीं हो जाता जब तक कि दोषसिद्धि और दंडादेश अपील न्यायालय द्वारा अपास्त नहीं कर दिया जाता । दोषसिद्धि और दंडादेश अपील का निर्णय होने तक कायम रहते हैं और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8 जैसे उपबंध के प्रयोजनार्थ उसमें उपबंधित निरर्हताओं के निश्चायक है ।

45. अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि जिस तारीख को द्वितीय प्रत्यर्थी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई थी उस तारीख को वह भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अधीन दोषसिद्धियों और दो वर्ष से अन्यून के कारावास के दंडादेशों के कारण लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के अधीन विधानमंडल की सदस्य बनने के लिए निरर्हित थी ।

46. प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल द्वारा यह निवेदन किया गया कि न्यायालय तब भी कुछ नहीं कर सकता था। यह निवेदन किया गया कि अनुच्छेद 164 के खंड (4) के साथ पठित खंड (1) के अधीन नियुक्त मुख्यमंत्री या मंत्री की दशा में जनता ने, जिसके पास अंतिम सर्वसत्ता होती है अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों की मार्फत अपनी इच्छा अभिव्यक्त की थी । छह मास की अवधि के लिए अपराध से विमुख होने का अवसर एक अपवाद के रूप में प्रवर्तित होता हैं, जिसके परिणामस्वरूप उस अवधि के लिए सच्चे संसदीय लोकतंत्र में जनता की इच्छा अभिभावी होगी, विशेष रूप से जबकि अभिकथित निरर्हताओं, जैसे लाभ का पद धारण करने या माल के प्रदाय या कार्य के निष्पादन के लिए अस्तित्वशील संविदा के होने के संबंध में न्यायनिर्णयन करने के लिए कोई उपबंध नहीं किया गया था । सांविधानिक नियंत्रण के इस क्षेत्र में, छह मास की सीमित अवधि के लिए न्यायालय को इस बात की स्वतंत्रता नहीं है कि वह मंत्री के रूप में किसी मंत्री की अर्हताओं और निरर्हताओं का अर्थान्वयन करे जब कि अनुच्छेद 164(4) में ऐसी कोई अर्हता और निरर्हता विद्यमान नहीं है । राज्यपाल के पास अर्हताओं या निरर्हताओं का, उदाहरणार्थ, अस्तित्वशील संविदाओं के विद्यमान होने या लाभ का पद धारण करने का न्यायनिर्णयन करने संबंधी तंत्र का न होने और साक्षियों को बुलाने या शपथ दिलाने या दस्तावेज़ मंगाने या सकारण निर्णय देने की शक्ति न होने के कारण उसके द्वारा संविधान की परम्पराओं के आधार पर की गई नियुक्ति को अधिकार-पृच्छा की कार्यवाहियों में चुनौती नहीं दी जा सकती थी ताकि अनुच्छेद 164 के अधीन की गई नियुक्ति को विधि के प्राधिकार के बिना की गई नियुक्ति नहीं बनाया जा सकता था । यदि उसने ऐसा किया है तो न्यायालय राजनीति के झुरमुट में प्रवेश करेगा । जब विधानमंडल के किसी अभ्यर्थी या सदस्य के लिए अर्हताएं और निरर्हताएं विहित की गई थीं और उनका न्यायनिर्णयन करने के लिए एक तंत्र का उपबंध किया गया था तो अनुच्छेद 164 के खंड (4) के साथ पठित खंड (1) के अधीन नियुक्त किसी मंत्री या मुख्यमंत्री के लिए कोई अर्हता विहित करने का अभाव और उसका न्यायनिर्णयन करने का अर्थ यह था कि राज्यपाल को मुख्यमंत्री या मंत्री का चुनाव करते समय जनता की इच्छाओं

[1] [1982] 1 उम. नि. प. 1 = (1981) 2 एस. सी. सी. 84.

को स्वीकार करना होगा तथा मात्र इस बात को महत्व दिया जाएगा कि उस राजनैतिक दल और उसके नेता के पास विधानमंडल का बहुमत प्राप्त है और वह स्थायी सरकार प्रदान कर सकता है । एक बार जब निर्वाचक किसी राजनैतिक दल और उसके नेता को पांच वर्ष की अवधि के लिए किसी राज्य की सरकार को चलाने का निर्णय कर देता है तो संविधान में इसके प्रतिकूल किसी अभिव्यक्त उपबंध के अभाव में, राज्यपाल उस विधानमंडल दल के नेता को सरकार बनाने के लिए बुलाने हेतु बाध्य है । संविधान या लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम या इस न्यायालय के किसी विनिश्चय में ऐसा कोई अभिव्यक्त, असंदिग्ध उपबंध नहीं है जिसमें यह घोषणा की गई हो कि विचारण न्यायालय द्वारा किसी अपराध के सिद्धदोष और दो वर्ष से अन्यून की अवधि के कारावास से दंडादिष्ट किसी व्यक्ति को उसकी प्रथम अपील के लंबित रहने के दौरान मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त नहीं किया जाएगा । ऐसी स्थिति में, राज्यपाल से यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि वह शासन करने वाले दल के पक्ष में मतदान करने वाली राज्य की जनता का विरोध करने की स्थिति उत्पन्न करे और राज्य में अशांति उत्पन्न करे । प्रस्तुत मामले में राज्यपाल इस आधार पर कार्यवाही करने का हकदार था कि द्वितीय प्रत्यर्थी की अपीलों पर अक्तूबर, 2000 में दो मास के भीतर सुनवाई करने का निदेश दिए जाने के कारण द्वितीय प्रत्यर्थी को छह मास की समय-सीमा के भीतर अपीलों का निपटारा करा लेने की स्वतंत्रता होगी और दोषमुक्ति की दशा में छह मास की अवधि के भीतर निर्वाचन लड़ने की अपात्रता का प्रश्न ही उद्भूत नहीं होगा । यदि राज्यपाल विधानमंडल में बहुमत वाले दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है और यदि वह नेता विधायक नहीं है तो न्यायालय अधिकार-पृच्छा संबंधी कार्यवाहियों में यह विनिश्चित करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा कि मुख्यमंत्री निरर्हित था । अन्यथा इसका अभिप्राय यह होगा कि जब राज्यपाल ने परम्पराओं के अनुसार नेता को मुख्यमंत्री पद के लिए आमंत्रित किया हो तो अगले ही क्षण नेता को अधिकार-पृच्छा के कारण पद खाली करना होगा । इस प्रकार न्यायालय स्वयं को राज्य के तीनों अंगों से श्रेष्ठ बनाएगा जिसके परिणामस्वरुप इस बात का विनिश्चय सदन द्वारा किए जाने की बजाय कि क्या ऐसे व्यक्ति को अविश्वास प्रस्ताव द्वारा हटाया जाए अथवा नहीं, यह कार्य विधानमंडल की इच्छा के प्रतिकूल, जिसका अभिप्राय जनता की इच्छा से है जिसका प्रतिनिधित्व विधानमंडल में बहुमत वाला दल करता है, न्यायालय करेगा । इस प्रकार यह विनिश्चित करके कि मुख्यमंत्री को अपना पद छोड़ देना चाहिए, न्यायालय राजनैतिक अखाड़े में प्रवेश करेगा जिसके परिणामस्वरूप राज्य की शासन-व्यवस्था में अस्थिरता आएगी ।

47. इस मामले में, जैसा कि हमने उल्लेख किया है, हमारा संबंध राज्यपाल द्वारा अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए द्वितीय प्रत्यर्थी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाने की उसकी कार्यवाही की शुद्धता या अन्यथा से नहीं है ।

48. किन्तु प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल द्वारा अनुच्छेद 164 के अधीन राज्यपाल की शक्तियों की बाबत निवेदन किए गए थे जिन पर टिप्पणी करने की आवश्यकता है । ये निवेदन किए गए थे कि राज्यपाल, अनुच्छेद 164 के खंड (4) के साथ पठित खंड (1) के अधीन शक्तियों का प्रयोग करते हुए विधानमंडल में बहुमत वाले दल द्वारा नामनिर्दिष्ट व्यक्ति को इस बात पर ध्यान दिए बिना मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने के लिए बाध्य है कि क्या नामनिर्दिष्ट व्यक्ति अनुच्छेद 173 के अधीन विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए अर्हित है अथवा नहीं या वह अनुच्छेद 191 के अधीन इस निमित्त निरर्हित है और किसी ऐसे मुख्यमंत्री को, जो अर्हित नहीं था या जो निरर्हित था, मात्र विधानमंडल में अविश्वास प्रस्ताव द्वारा या अगले निर्वाचन में मतदाता द्वारा ही हटाया जा सकता है । किसी विनिर्दिष्ट प्रश्न के संबंध में प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि राज्यपाल इस प्रकार बाध्य है कि भले ही वह व्यक्ति जिसकी सिफारिश की गई है, राज्यपाल की जानकारी के अनुसार एक गैर-नागरिक, कम आयु का, पागल या अनुन्मोचित दिवालिया हो और किसी गैर-नागरिक या कम आयु वाले या पागल या दिवालिया मुख्यमंत्री को मात्र विधानमंडल में अविश्वास मत द्वारा या अगले निर्वाचन में ही हटाया जा सकता है ।

49. विधानमंडल में बहुमत वाले दल द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति को, जो गैर-नागरिक या कम आयु का या पागल या दिवालिया है, मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने के लिए नामनिर्दिष्ट करने के पश्चात् विधानमंडल से यह प्रत्याशा

करना यथार्थ नहीं है कि वह उस मुख्यमंत्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करे और सामान्यतः निर्वाचन मुख्यमंत्री द्वारा अपना कार्यकाल पूरा करने के पश्चात् ही होंगे ।

50. विद्वान् काउन्सेल के निवेदन को स्वीकार करने का अभिप्रायः घोर विपत्ति को बुलावा देना होगा । उदाहरणार्थ, विधानमंडल में बहुमत वाला दल राज्यपाल को किसी ऐसे विदेशी नागरिक की नियुक्ति की सिफारिश कर सकता था जो कि विधानमंडल का सदस्य नहीं होगा और जो अनुच्छेद 173 के अधीन उसका सदस्य बनने के लिए अर्हित नहीं होगा और अनुच्छेद 164 के खंड (4) के साथ पठित उसके खंड (1) के अधीन मुख्यमंत्री के रूप में अर्हित नहीं होगा तथा राज्यपाल उस सिफारिश का अनुपालन करने के लिए बाध्य होगा; विधानमंडल विदेशी मुख्यमंत्री के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने में असमर्थ होगा क्योंकि बहुमत वाला दल उसका विरोध करेगा और विदेशी मुख्यमंत्री अगले निर्वाचन तक सुखपूर्वक पद पर बना रहेगा । अनुच्छेद 164 के ऐसे खतरनाक और असंगत निर्वचन को आरंभ में ही खारिज करना होगा । संविधान, बहुमत वाले दल के माध्यम से अभिव्यक्त जनता की इच्छा पर अभिभावी होता है । बहुमत वाले दल के माध्यम से अभिव्यक्त जनता की इच्छा केवल तभी अभिभावी होती है जब वह संविधान के अनुरूप हो । राज्यपाल संविधान के अधीन एक कृत्यकारी है और उन्हें "संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करने" की शपथ दिलाई जाती है (अनुच्छेद 159) । राज्यपाल, अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए या अन्यथा ऐसा कुछ नहीं कर सकता जो संविधान और विधि के प्रतिकूल हो । यह अलग बात है कि अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल को प्राप्त संरक्षण के कारण, राज्यपाल द्वारा किए गए विवेकाधिकार के प्रयोग को चुनौती नहीं दी जा सकती । हमें इस संबंध में बिल्कुल भी संदेह नहीं है कि यदि विधानमंडल में बहुमत वाला दल राज्यपाल को किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करने के लिए कहता है, जो विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए अर्हित नहीं है और जो इस प्रकार निरर्हित हैं, तो राज्यपाल को संविधान तथा विधि को ध्यान में रखते हुए जिसके अध्यधीन वह है, उससे इनकार करना चाहिए और इस संबंध में उसके द्वारा किए गए विवेकाधिकार के प्रयोग को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता ।

51. यदि मान लीजिए किन्हीं कारणों से, राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करता है जो विधानमंडल का सदस्य बनने के लिए अर्हित नहीं है या इस प्रकार निरर्हित है तो यह नियुक्ति, जैसा कि हमने निर्वचन किया है, संविधान के अनुच्छेद 164 के उपबंधों के प्रतिकूल होगी और नियुक्त व्यक्ति के नियुक्ति पर बने रहने के प्राधिकार को अधिकार-पृच्छा की कार्यवाहियों में चुनौती दी जा सकती है । यह बात नियुक्त व्यक्ति को नियुक्ति पर बने रहने का उच्चतर अधिकार प्रदान नहीं करती कि उसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की गई है । यदि नियुक्ति सांविधानिक उपबंधों के प्रतिकूल है तो इसे अभिखंडित किया जाएगा । इसके प्रतिकूल किए गए किसी ऐसे निवेदन को अवश्य ही खारिज किया जाना चाहिए जिसे किसी भी प्राधिकार का समर्थन प्राप्त न हो ।

52. **श्री कुमार पदमा प्रसाद** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय का निर्णय इस मुद्दे से संबंधित मामला है । के. एन. श्रीवास्तव नामक व्यक्ति को भारत के राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षरित नियुक्ति वारंट द्वारा गुवाहाटी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया गया था । उसे पद की शपथ दिलाए जाने से पूर्व उस उच्च न्यायालय में उसके विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की कार्यवाहियां आरंभ की गई थीं । यह निदेश देते हुए अंतरिम आदेश पारित किया गया था कि नियुक्ति वारंट को अगले आदेश होने तक प्रभावी नहीं किया जाना चाहिए । इसके पश्चात् इस न्यायालय में एक अंतरण याचिका फाइल की गई थी और उसे मंजूर कर लिया गया । इस न्यायालय ने अभिलेख और उस सामग्री की परीक्षा करने के पश्चात्, जो उसने अपने समक्ष पेश करने के लिए अनुज्ञात की, यह अभिनिर्धारित किया कि श्रीवास्तव उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं है और उसकी नियुक्ति अभिखंडित कर दी गई थी । इस मामले से यह दर्शित होता है कि भले ही किसी व्यक्ति की सांविधानिक पद पर नियुक्ति राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा की गई हो, उस पद को धारण करने की उस व्यक्ति की अर्हता की परीक्षा अधिकार-पृच्छा संबंधी कार्यवाहियों में की जा सकती है और उसकी नियुक्ति अभिखंडित की जा

---

[1] (1992) 2 एस. सी. सी. 428.

सकती है ।

53. यह निवेदन किया गया था कि हमें इस प्रश्न का उत्तर देकर राजनैतिक झुरमुट में प्रवेश नहीं करना चाहिए। हमारे समक्ष जो प्रश्न है, वह संविधान के निर्वचन से संबंधित है । संविधान का निर्वचन करना इस न्यायालय का कर्तव्य है । उसे इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना उस कर्तव्य का निर्वहन करना चाहिए, कि इस प्रश्न का उत्तर देने का राजनैतिक प्रभाव होगा । **राजस्थान राज्य और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने यह कथन किया, "किन्तु मात्र यह कि प्रश्न का स्वरूप राजनैतिक है, अपने आप में ऐसा कोई आधार नहीं है कि न्यायालय को संविधान के अधीन अपने कर्तव्य का अनुपालन करने से झिझकना चाहिए यदि उसमें सांविधानिक अवधारणा का कोई विवाद्यक उद्भूत होता है । प्रत्येक सांविधानिक प्रश्न का संबंध सरकारी शक्ति के आबंटन और प्रयोग से होता है और इसलिए कोई भी सांविधानिक प्रश्न राजनैतिक होने से नहीं बच सकता........। जहां तक प्रश्न यह उद्भूत होता है कि क्या संविधान के अधीन किसी प्राधिकारी ने अपनी शक्तियों की सीमाओं के भीतर कार्य किया है या उसके बाहर कार्य किया है तो निश्चित रूप से इसका विनिश्चय न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । वस्तुतः ऐसा करना उसकी सांविधानिक बाध्यता होगी । सुस्पष्ट संभव निबंधनों में, विशेषकर नवीन इतिहास के संदर्भ में इस बात पर बल देना आवश्यक है कि संविधान सर्वोच्च विधि है, इस देश की सर्वोपरि विधि है और सरकार का कोई विभाग या शाखा इससे ऊपर या इससे परे नहीं है ।"

54. हमारा यह समाधान हो गया है कि मुख्यमंत्री के रूप में द्वितीय प्रत्यर्थी की नियुक्ति करते समय सांविधानिक उपबंध का स्पष्ट अतिलंघन किया गया है और इसलिए अधिकार-पृच्छा की रिट अवश्य जारी की जानी चाहिए ।

55. हम इन निवेदनों से प्रभावित नहीं हुए कि इस न्यायालय में फाइल की गई अधिकार-पृच्छा की रिट याचिकाएं हमारी अधिकारिता के बाहर हैं क्योंकि उनमें मूल अधिकारों के भंग के संबंध में कोई अभिवाक् नहीं किया गया था; यह कि रिट याचिका में मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उसके समक्ष इसी प्रकार के अनुतोष के लिए फाइल की गई रिट याचिका ठीक ही खारिज की गई थी क्योंकि यही मुंद्दा इस न्यायालय में लंबित था और यह कि इसी प्रकार के अनुतोष के लिए फाइल की गई अंतरित रिट याचिका इस न्यायालय में फाइल की गई रिट याचिकाओं के खारिज हो जाने के प्रकाश में उच्च न्यायालय को सुनवाई के लिए वापस भेज दी जानी चाहिए । इस न्यायालय में फाइल की गई प्रथम रिट याचिका [2001 की रिट याचिका (सिविल) सं. 242] में अनुच्छेद 14 के भंग के संबंध में प्रकथन किया गया है । उच्च न्यायालय द्वारा जो रिट याचिका खारिज़ की गई थी और जिसके आदेश के विरुद्ध इस न्यायालय में अपील लंबित है, अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल की गई थी जैसे कि अंतरित रिट याचिका फाइल की गई थी । अतः, इस न्यायालय को अधिकार-पृच्छा की रिट जारी करने की अधिकारिता है । हम प्रथम रिट याचिका में आदेश पारित करते हैं और उसकी रोशनी में अन्य रिट याचिकाओं, अपील और अंतरित रिट याचिका का निपटारा करते हैं ।

56. हम इस निवेदन से प्रभावित नहीं हुए हैं कि हमें अधिकार-पृच्छा रिट जारी करने के संबंध में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि द्वितीय प्रत्यर्थी को अनुच्छेद 164(4) द्वारा अनुज्ञात छह मास की अवधि अब से लगभग दो मास में समाप्त हो जाएगी और यह संभव है कि द्वितीय प्रत्यर्थी उस दांडिक अपील में, जो उसने फाइल की है, सफल हो जाए । हमारा यह मत है कि मुख्यमंत्री के पद पर ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति, जो वह पद धारण करने के लिए अर्हित नहीं है, यथाशीघ्र अभिखंडित की जानी चाहिए ।

57. हम इस बाद से भिज्ञ हैं कि इस निष्कर्ष के गंभीर परिणाम होंगे कि द्वितीय प्रत्यर्थी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ नहीं दिलाई जा सकती थी और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकती । इसका अभिप्रायः केवल मात्र यह नहीं होगा कि तारीख 14 मई, 2001 से राज्य में कोई विधिमान्य रूप से नियुक्त मुख्यमंत्री नहीं था बल्कि इसका

[1] [1977] 4 उम. नि. प. 1107 = (1977) 3 एस. सी. सी. 592.

अभिप्राय यह भी होगा कि इसमें विधिमान्य रूप से नियुक्त मंत्रिपरिषद् नहीं थी क्योंकि मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति द्वितीय प्रत्यर्थी की सिफारिश पर की गई थी । इसका अभिप्राय यह भी होगा कि तारीख 14 मई, 2001 से तमिलनाडु सरकार के सभी कृत्यों को प्रश्नगत किया जाएगा । इन परिणामों से बचने के लिए और राज्य और उसकी जनता के प्रशासन के हित में, जिसने इस आधार पर कार्यवाही की होगी कि ये नियुक्तियां विधिमान्य और वैध थीं, हम वास्तविक सिद्धांत का अवलंब लेना चाहते हैं और यह घोषणा करते हैं कि द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा मुख्यमंत्री के रूप में, मंत्रिपरिषद् के सदस्यों द्वारा और राज्य सरकार द्वारा तारीख 14 मई, 2001 और आज तक के बीच किए गए उन सभी कृत्यों पर, जो अन्यथा वैध और विधिमान्य हैं, हमारे द्वारा अब प्रस्तावित आदेश के कारण-मात्र से प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

58. हमारा यह मत है कि ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसे किसी दांडिक अपराध में दोषसिद्ध और दो वर्ष से अन्यून की अवधि के लिए कारावास से दंडादिष्ट किया गया हो, अनुच्छेद 164 के खंड (4) के साथ पठित उसके खंड (1) के अधीन किसी राज्य का मुख्यमंत्री नियुक्त नहीं किया जा सकता और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकता ।

59. तद्नुसार हम यह आदेश और घोषणा करते हैं कि द्वितीय प्रत्यर्थी की तारीख 14 मई, 2001 को तमिलनाडु राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में की गई नियुक्ति वैध और विधिमान्य नहीं थी और वह इस प्रकार कृत्य नहीं कर सकती । द्वितीय प्रत्यर्थी की तमिलनाडु राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्ति को अभिखंडित और अपास्त किया जाता है ।

60. द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा तमिलानाडु राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में, राज्य की मंत्रिपरिषद् के सदस्यों द्वारा और उस राज्य की सरकार द्वारा कार्य करते हुए तारीख 14 मई, 2001 और आज तक के बीच किए गए ऐसे सभी कृत्यों पर, जो अन्यथा वैध और विधिमान्य हैं, इस आदेश-मात्र से कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

61. 2001 की रिट याचिका(सिविल) सं. 242 को उपर्युक्त निबंधनों में आत्यंतिक बनाया जाता है ।

62. इस आदेश की रोशनी में अन्य रिट याचिकाओं, अपील और अंतरित रिट याचिका का निपटारा किया जाता है ।

63. खर्चे की बाबत कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

न्या. पटनायक –

64. इज़ाज़त दी गई ।

65. मैं न्या. बंधु श्री भरुचा के निर्णय में निकाले गए निष्कर्षों तथा उसमें दिए गए निदेशों से सादर सहमत हूं। मुझे इस तथ्य का बोध है कि साधारणतया निर्णयों की बहुतायतता को रोका जाना चाहिए । किन्तु यदि प्रत्यर्थी सं.2 की दलीलों को स्वीकार कर लिया जाता है तो मैं अंतर्वलित प्रश्न के महत्व और परिणामों की अतिशयता को ध्यान में रखते हुए कुछ पहलुओं पर अपने विचारों को अभिव्यक्त करना उचित समझता हूं । मैं उन तथ्यों को दोहराना आवश्यक नहीं समझता जिनका न्या. बंधु श्री भरुचा के निर्णय में स्पष्ट उल्लेख किया गया है । जो प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या ऐसे अनिर्वाचित अभ्यर्थी को, जिसका कि विधान सभा का निर्वाचन लड़ने संबंधी नामनिर्देशन पत्र नामंजूर कर दिया गया हो और नामंजूरी संबंधी उक्त आदेश चुनौती न दिए जाने के कारण अंतिम हो गया है, इस कारण कि विधान सभा के लिए निर्वाचित अधिकांश सदस्यों ने उस व्यक्ति को अपना नेता चुना है, अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त किया जा सकता है ? कथन यह है कि उक्त व्यक्ति को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के उपबंधों के अधीन सिद्धदोष ठहराए जाने पर और तीन वर्ष के कारावास का दंडादेश दिए जाने पर लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8(3) के अधीन उस व्यक्ति के निरर्हित होने के आधार पर उसका नामनिर्देशन पत्र नामंजूर कर दिया गया था । प्रत्यर्थी सं.2 की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान ज्येष्ठ

काउन्सेल श्री वेणुगोपाल और तमिलनाडु राज्य की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान ज्येष्ठ काउन्सेल श्री पी.पी.राव द्वारा दी गई दलीलों का मुख्य आधार यह है कि संविधान के अनुच्छेद 164 में, जिसके अधीन राज्यपाल को किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करने की और तत्पश्चात् ऐसे मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्रियों को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गई है, मंत्री या मुख्यमंत्री नियुक्त किए जाने के संबंध में कोई अर्हता विहित नहीं की गई है और दूसरी ओर अनुच्छेद 164 के उप अनुच्छेद (4) के अधीन ऐसे मंत्री को छह मास की अवधि के लिए मंत्री बने रहने के लिए सशक्त बनाया गया है और उक्त मंत्री उस दशा में मंत्री नहीं रहता यदि वह छह मास की उस अवधि के भीतर राज्य विधानमंडल के सदस्य के रूप में निर्वाचित नहीं हो जाता । इस प्रकार, अनुच्छेद 173 के अधीन राज्य विधानभंडल के सदस्यों के लिए निर्दिष्ट अर्हताओं का या संविधान के अनुच्छेद 191 के अधीन विधान सभा का सदस्य चुने जाने या बनने के लिए किसी व्यक्ति की बाबत निर्दिष्ट निरर्हताओं का उल्लेख करना उचित नहीं होगा । विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल के अनुसार, राज्यपाल अनुच्छेद 164 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए सुस्थापित संसदीय परम्परा का अनुसरण करने के लिए कर्तव्यबद्ध होता है और मुख्यमंत्री बनने के लिए उस व्यक्ति को आमंत्रित करता है जिस व्यक्ति को सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त होता है । दूसरे शब्दों में, यदि किसी राजनैतिक दल को विधान सभा में अधिक संख्या में स्थान प्राप्त होते हैं और ऐसे निर्वाचित विधायक किसी व्यक्ति को अपना नेता चुनते हैं और उस तथ्य की सूचना राज्यपाल को दी जाती है तब राज्यपाल इस तथ्य को विचार में लाए बिना कि उस व्यक्ति को विधान सभा का सदस्य होने के लिए अनुच्छेद 173 के अधीन निर्दिष्ट अर्हताएं प्राप्त हैं या नहीं अथवा वह अनुच्छेद 191 के अधीन निर्दिष्ट निरर्हताओं में से किसी निरर्हता के कारण विधान सभा का सदस्य चुने जाने या बनने के लिए अन्यथा निरर्हित है, उस व्यक्ति को मुख्यमंत्री के पद पर आसीन होने के लिए बुलाने के लिए कर्तव्यबद्ध होता है । पूर्वोक्त दलील दो तर्कों पर आधारित है : (1) अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री या मंत्री के लिए अर्हता या निरर्हता का वर्णन न होना; और (2) यह कि संसदीय लोकतंत्र में लोगों की भावनाएं अवश्य ही अभिभावी होनी चाहिए। अतः अनिवार्यतः संविधान के अनुच्छेद 164 के उपबंधों की गहराई से समीक्षा करना आवश्यक है और इसके अतिरिक्त, इस सिद्धांत पर भी कि संसदीय लोकतंत्र में लोगों की भावनाएं किसी भी दशा में अभिभावी होनी चाहिए, जैसा कि श्री वेणुगोपाल तथा श्री राव द्वारा कथन किया गया है, गहराई से विचार किए जाने की आवश्यकता है । अतः मैं अपना ध्यान पूर्वोक्त दो मुद्दों पर ही केन्द्रित करूंगा ।

66. निस्संदेह यह सही है कि अनुच्छेद 164(1) और अनुच्छेद 164(4) में मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त किए जाने के संबंध में किसी अर्हता या निरर्हता का उपबंध नहीं है, जबकि अनुच्छेद 173 में राज्य विधानमंडल में किसी स्थान को भरने के लिए किसी व्यक्ति के चुने जाने संबंधी अर्हता विहित की गई है । अनुच्छेद 191 में किसी व्यक्ति के राज्य विधान सभा या राज्य विधान परिषद् का सदस्य चुने जाने या बनने संबंधी निरर्हता का उपबंध किया गया है । विचाराधीन मामले में, प्रत्यर्थी सं.2 को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 8(3) के साथ पठित अनुच्छेद 191(1)(ङ) के अधीन निरर्हित कर दिया गया था क्योंकि उक्त प्रत्यर्थी सं. 2 को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 13 के अधीन सिद्धदोष ठहराया गया था और उसे तीन वर्ष की अवधि के कारावास से दंडादिष्ट किया गया था, हालांकि उस दंडादेश के निष्पादन को अपील न्यायालय द्वारा निलंबित कर दिया गया है जबकि दोषसिद्धि और दंडादेश के विरुद्ध अपील मद्रास उच्च न्यायालय में लंबित पड़ी हुई है ।

67. श्री वेणुगोपाल के अनुसार, भारत के संविधान के अधीन जब अनुच्छेद 164(1) या 164(4) के अधीन कोई अर्हता या निरर्हता विद्यमान नहीं है तो इससे अनिवार्यतः यह अनुध्यात होता है कि सांविधानिक शासन क्षेत्र में छह मास की सीमित अवधि के लिए किसी भी व्यक्ति को मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त किया जा सकता है और न्यायालय विधान सभा के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए संविधान के अधीन विहित अर्हताओं और निरर्हताओं को अधिरोपित करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, पूर्वोक्त सांविधानिक उपबंध से जो युक्तियुक्त निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए वह यह है कि संविधान में गैर-सदस्य प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री या मंत्री के प्रत्यय-पत्रों की संवीक्षा को अनुध्यात नहीं किया गया है क्योंकि सांविधानिक सिद्धांत के अनुसार सदन ही, जिसमें

उसका बहुमत है, उसके लिए छह मास की इस अल्पकालिक, अस्थाई और सीमित अवधि की प्रस्थापना करता है। श्री वेणुगोपाल द्वारा यह भी दलील दी गई कि लोग, जो अंतिम प्रभुत्व संपन्न हैं, अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से, किसी ऐसे अनिर्वाचित व्यक्ति को अपना नेता चुनने के लिए जिसे मुख्यमंत्री नियुक्त किया जा सकता है, अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं तथा अनुच्छेद 164(4) में स्पष्ट रूप से लोक भावना का सम्मान करने के लिए छह मास की अवधि का उपबंध है, जो निर्वाचित सदस्यों के बहुमत की राय से, जो वस्तुतः संसदीय लोकतंत्र का आधार है, मतानुवर्तिता के अपवाद के रूप में प्रवृत्त होता है। श्री वेणुगोपाल ने यह भी दलील दी कि निरर्हता का, जो शास्ति की प्रकृति की है, जब तक कि संविधान में अथवा, दूसरे शब्दों में, अनुच्छेद 164 में अभिव्यक्त रूप से उपबंध न किया जाए, तब तक न्यायालय के लिए उस निरर्हता को, जिसका कि विधान सभा के सदस्यों के रूप में चुने जाने के लिए अनुच्छेद 164 में उपबंध किया गया है, सम्मिलित करना और प्रत्यर्थी सं.2 की नियुक्ति की, जो कि पूर्णतया निर्वाचित सदस्यों के बहुमत की राय के आधार पर की गई है, विधिमान्यता के बारे में निर्णय सुनाना उचित नहीं होगा। मैं विद्वान् काउन्सेल की इन दलीलों को स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मेरी सुविचारित राय में, ये दलीलें गलत विनिश्चयाधार पर आधारित हैं। संसदीय शासन प्रणाली में, जब राजनैतिक दल विधान सभा या संसद का सदस्य चुने जाने के लिए निर्वाचन लड़ते हैं तब परिणाम घोषित किए जाने के पश्चात् संसद् की दशा में राष्ट्रपति का और राज्य विधान सभा की दशा में राज्यपाल का यह कर्तव्य होता है कि वह, यथास्थिति, प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री की नियुक्ति करे। जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 75 के अधीन प्रधानमंत्री की या राज्यपाल अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तो राष्ट्रपति या राज्यपाल को जिस प्रश्न का निरूपण करना होता है वह यह होता है कि कौन स्थाई सरकार देने में समर्थ होगा। अतः, अनिवार्यतः बहुमत पाने वाले दल की ही भावना अभिभावी होनी चाहिए और यह उपधारणा की जाती है कि बहुमत पाने वाले राजनैतिक दल के सदस्य अपने में से किसी एक को अपना नेता निर्वाचित करेंगे। तथापि, संविधान में, ऐसे राजनैतिक दल के, जिसका विधान सभा या संसद् में बहुमत है, निर्वाचित सदस्यों को, ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसने सदस्य चुने जाने के लिए कभी निर्वाचन लड़ा ही नहीं या ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसने निर्वाचन तो लड़ा था किन्तु वह किसी न किसी कारण से निर्वाचन में हार गया था, (अपना नेता) निर्वाचित करने से निवारित नहीं किया गया है और ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति उस राजनैतिक दल का, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त है, नेता निर्वाचित किए जाने पर प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। किन्तु संविधान में निश्चित रूप से यह अनुध्यात नहीं है कि संसद् या विधान सभा में बहुमत प्राप्त करने वाले राजनैतिक दल के ऐसे निर्वाचित लोक प्रतिनिधि ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसे कि सरकार का शासन चलाने के लिए राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा बुलाया जा सके, अपना नेता निर्वाचित न करें, जिसके पास संसद् या विधान सभा का स्थान भरने के लिए क्रमशः संविधान के अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 173 में यथा अंतर्विष्ट, निर्वाचित किए जाने संबंधी, अर्हता नहीं है अथवा जो संसद् या विधान सभा का सदस्य चुने जाने या होने के लिए क्रमशः संविधान के अनुच्छेद 102 और अनुच्छेद 191 के अधीन निरर्हित है। बहरहाल, यदि विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा, जिन्हें विधान सभा में बहुमत प्राप्त हुआ है, किसी ऐसे व्यक्ति को निर्वाचित किया जाता है और उस व्यक्ति के पास या तो अनुच्छेद 173 के अधीन विहित अर्हता नहीं है या जो विधान सभा का सदस्य चुने जाने या होने के लिए अनुच्छेद 191 के अधीन विहित निरर्हता से ग्रस्त हो गया है, तो राज्यपाल उस राजनैतिक दल के, जिसे सदन में बहुमत प्राप्त है, निर्वाचित सदस्यों की उस इच्छा का, जिससे कि संविधान के अनुच्छेद 164(1) के अधीन उस व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जा सके, सम्मान करने के लिए आबद्धकर नहीं होगा। जब अनुच्छेद 164(1) के अधीन ही राज्यपाल को अपने प्रसादपर्यन्त मुख्यमंत्री नियुक्त करने का विवेकाधिकार दिया गया है और राज्यपाल ने संविधान के अनुच्छेद 159 के अधीन संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करने तथा जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहने की शपथ ली हुई है, तब यदि ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसके पास सदस्य चुने जाने संबंधी अर्हता नहीं है या जो सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए निरर्हताग्रस्त हो गया है, मात्र इस कारण कि अनुच्छेद 164 में मुख्यमंत्री या मंत्री चुने जाने के लिए कोई अर्हता या निरर्हता का उपबंध नहीं है, मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है तो यह उस शपथ के विरुद्ध होगा। निस्संदेह यह स्थिर सिद्धांत है कि अनुच्छेद

173 में की आवश्यक अर्हता और अनुच्छेद 191 में की निरर्हता स्वतः ही मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति को लागू होती हैं क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली में किसी व्यक्ति के लिए विधान सभा का सदस्य बनने के लिए किसी निर्वाचन क्षेत्र के निर्वाचक मंडल (मतदाताओं) द्वारा चुना जाना आवश्यक होता है, उसके पश्चात् ही वह मुख्यमंत्री या मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्री नियुक्त किए जाने का हकदार होता है । मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में चुने जाने के लिए अनुच्छेद 164 के अधीन किसी अर्हता या निरर्हता के विहित न होने के कारण राज्यपाल उस व्यक्ति को छह मास की सीमित अवधि के लिए, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 164(4) में अंतर्विष्ट है, मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त करने में समर्थ होता है और ऐसा केवल तभी होगा यदि ऐसे व्यक्ति के पास विधान सभा के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए अनुच्छेद 173 के अधीन यथा अपेक्षित अर्हता हो और वह अनुच्छेद 191 में वर्णित निरर्हताओं में से किसी निरर्हता के कारण अन्यथा निरर्हित न हो । राज्यपाल को निरंकुश विवेकाधिकार प्रदत्त करते हुए या राजनैतिक दल के निर्वाचित सदस्यों को, जिन्हें विधान सभा में बहुमत प्राप्त है, ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसके पास अनुच्छेद 173 में विहित अर्हता नहीं है या जो अनुच्छेद 191 में विहित निरर्हताओं के कारण निरर्हित हो गया है, चुनने का निरंकुश अधिकार प्रदान करते हुए किसी प्रकार का अन्य निर्वचन करना, संविधान के लिए हानिकर होगा और सुशासन के सिद्धांत के विरुद्ध होगा तथा स्वतः उस संविधान के प्रतिकूल होगा, जो संविधान भारत के लोगों के लिए भारत के लोगों द्वारा अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया गया है ।

68. इस संबंध में, इस बात की अवेक्षा करना उचित होगा कि भारत शासन अधिनियम, 1935 (गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट, 1935) के अधीन भी, जिसमें धारा 51(1) और धारा 51(2) कुछ-कुछ संविधान के अनुच्छेद 164 के समान थीं, भारत के सांविधानिक सुधार विषयक संयुक्त समिति की रिपोर्ट में भी यह उपदर्शित है कि कोई भी निरर्हित व्यक्ति मंत्री के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता । यह निम्नलिखित वाक्यांश से स्पष्ट होता है :–

> "अतः हमें यह सुझाव दिया गया कि राज्यपाल को अपने विकल्प का प्रयोग करने से निर्बंधित नहीं किया जाना चाहिए और यह कि यदि ऐसी कोई आवश्यकता पड़ती है तो उसे ऐसी स्थिति में होना चाहिए कि वह नियुक्ति के लिए **अन्यथा अर्हित** उन व्यक्तियों में से, जिनके लिए संभवतः निर्वाचन में दौड़-धूप करने की संदिग्ध आकांक्षाओं का कोई महत्व न हो, मंत्री या मंत्रियों का चयन कर सके ।"

संविधान सभा विचार-विमर्श (कांस्टिट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स) में भी जब मोहम्मद ताहिर, सांसद, ने प्रारूप संविधान के अनुच्छेद 144(3), जो संविधान के अनुच्छेद 164(4) के तत्समान है, में इस आशय का संशोधन करने का सुझाव दिया कि :–

> "सदस्य, उस रूप में अपने चुने जाने के समय, यथास्थिति, राज्य विधान सभा या विधान परिषद् का सदस्य होगा ।"

और यह निवेदन किया कि यदि उस व्यक्ति को, जिसे देश की जनता द्वारा चुना ही नहीं गया, मंत्री नियुक्त किया जाता है तो यह पूर्णतया लोकतंत्र की भावना के विरुद्ध होगा । डा. अम्बेडकर ने उस संशोधन को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि मंत्री की पदावधि **प्रशासन की पवित्रता** और सदन के विश्वास की शर्त के अध्यधीन होनी चाहिए । उन्होंने आगे यह कहा कि -

> "इस बात की कल्पना करने की पूर्ण संभावना है कि ऐसा कोई व्यक्ति, जो मंत्री का पद धारण करने के लिए **अन्यथा सक्षम** है, ऐसे किसी कारण से निर्वाचन क्षेत्र में हार गया हो, जिसके कारण, हालांकि वह पूर्णतया ठोस कारण हो सकता है, वह निर्वाचन क्षेत्र संभवतः संतप्त हो और उसने उस विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्र की नाराजगी मोल ले ली हो ।"

यदि मंत्री का पद धारण करने के कारण प्रशासन की पवित्रता और अन्यथा सक्षमता ही हैं जिनके कि आधार पर संविधान के रचियताओं द्वारा उस सक्षम व्यक्ति को, जो संभवतः हार गया हो, छह मास की सीमित अवधि के लिए मुख्य मंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्ति किए जाने की अनुज्ञा प्रदान की गई, तो इस बात की परिकल्पना करना

कठिन है कि वह व्यक्ति, जो कि निर्वाचित सदस्य नहीं है और जिसके पास सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए न्यूनतम अर्हता भी नहीं है अथवा वह सदस्य चुने जाने के लिए निरर्हित हो गया है, मात्र इस आधार पर कि अनुच्छेद 164 इस संबंध में सर्वथा मौन है और न्यायालय उक्त अनुच्छेद का कुछ और अर्थान्वयन नहीं कर सकता, मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 164 के उपबंधों का शुद्ध अर्थान्वयन किए जाने पर पूर्व निर्दिष्ट संविधान सभा में की गई चर्चा में, भारत शासन अधिनियम, 1935 में पूर्व विद्यमान तत्समान उपबंध और पूर्व निर्दिष्ट भारत के सांविधानिक सुधार विषयक संयुक्त समिति की परिचर्चा में सुव्यक्त रूप से यह स्पष्ट किया गया कि इस तथ्य के होते हुए भी कि अनुच्छेद 164(1) या अनुच्छेद 164(4) में कोई अर्हता या निरर्हता विहित नहीं की गई है किन्तु सदस्य चुने जाने के लिए ऐसी अर्हता या निरर्हता का उपबंध संविधान के अनुच्छेद 173 और 191 में किया गया है और उन्हें अनुच्छेद 164 के साथ पढ़ा जाना होगा तथा इस प्रकार पढ़े जाने पर प्रत्यर्थी सं.2 को, जो लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के साथ पठित अनुच्छेद 191(1)(ङ) के अधीन निरर्हताग्रस्त हो गया था, मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता था चाहे विधान सभा के लिए चुने गए उसके दल का कितना ही बहुमत हो और चाहे उन्होंने उसे सरकार बनाने के लिए अपने दल का नेता ही क्यों न चुन लिया हो।

69. इस संबंध में श्री वेणुगोपाल द्वारा दी गई एक गौण दलील पर कुछ विचार किया जाना अपेक्षित है। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, अनुच्छेद 164 में किसी न्यायनिर्णयन तंत्र का उपबंध नहीं होने पर, यदि विधान सभा का सदस्य चुने जाने के लिए अनुच्छेद 173 और अनुच्छेद 191 में विहित अर्हताओं और निरर्हताओं का अनुच्छेद 164 के साथ अर्थान्वयन किया जाता है तो उस प्रक्रम पर यदि प्रतिपक्ष किसी निरर्हता का प्रश्न उठाता है तो उस प्रश्न का विनिश्चय करने का कठिन भार राज्यपाल पर होगा और कोई भी राज्यपाल लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8 से 11 के साथ पठित अनुच्छेद 191 में प्रगणित निरर्हताओं में से प्रत्येक का न्यायनिर्णयन नहीं कर सकता। विद्वान् काउन्सेल के अनुसार, संविधान में, स्वाकार्यतः, गैर सदस्यीय मंत्री या मुख्यमंत्री के संबंध में किसी अर्हता या निरर्हता विहित नहीं की गई है और जो परिसीमा है वह केवल यह है कि ऐसा मंत्री या मुख्यमंत्री छह मास के भीतर अवश्य निर्वाचित होना चाहिए अन्यथा वह मंत्री बना नहीं रहेगा। मेरी सुविचारित राय में, किसी गैर सदस्य की मुख्यमंत्री के रूप में या मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्री के रूप में नियुक्ति राज्यपाल का समाधान होने पर अनुच्छेद 164 के अधीन की जाती है। यदि अनुच्छेद 191(1)(ङ) में वर्णित निरर्हताओं में से कोई निरर्हता राज्यपाल के ध्यान में लाई जाती है जो न्यायनिर्णयन की किसी अपेक्षा के बिना ही स्वीकार की जा सकती है या यदि राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि संबद्ध व्यक्ति के पास सदस्य चुने जाने के लिए अनुच्छेद 173 में यथाअंतर्विष्ट न्यूनतम अर्हता नहीं है तो ऐसे मामले में उस प्रक्रम पर राज्यपाल पर किसी असहनीय भार पड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं है और दूसरी ओर, सांविधानिक समादेश के अनुसार यह कार्य राज्यपाल का है कि वह विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत का समर्थन होते हुए भी वह ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री या मंत्री नियुक्त न करे। किसी मामले विशेष में, यदि अधिकथित निरर्हता विवादित तथ्य या साक्ष्य के प्रश्न पर आधारित है तो राज्यपाल उन विवादित तथ्यों के प्रश्नों पर विचार न करने का विकल्प अपना सकता है और इसलिए ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री या मंत्री के रूप में नियुक्त कर सकता है। ऐसे किसी मामले में, राज्यपाल अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमंत्री या मंत्री की नियुक्ति के मामले में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करता है। किन्तु ऐसे किसी मामले में जहां कि निरर्हता ऐसी है जो देखने से ही प्रकट होती है, जैसा कि विचाराधीन मामले में भी है, अर्थात् संबद्ध व्यक्ति दोषसिद्ध ठहराया गया है और उसे दो वर्ष से अधिक अवधि के कारावास से दंडादिष्ट किया गया है और दोषसिद्धि के प्रवर्तन पर रोक नहीं लगाई गई है और अपील लंबित पड़ी हुई है और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के साथ पठित अनुच्छेद 191(1)(ङ) के अधीन निरर्हता प्रत्यक्षतया प्रकट होती है, वहां राज्यपाल का मात्र इस कारण कि विधान परिषद् के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत ने संबद्ध व्यक्ति को अपना नेता चुना है, ऐसे किसी निरर्हित व्यक्ति को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करना उसकी अधिकारिता से बाहर जाकर की गई कार्रवाई होगी और सांविधानिक प्रत्यादेशों और मानदंडों के विरुद्ध की गई कार्रवाई होगी। संविधान में बाधा डालने के लिए उद्दण्ड कार्य करने की संविधान में अनुज्ञा नहीं दी गई है। भारत के लोग और विधान सभा के निर्वाचित सदस्य भी सांविधानिक उपबधों से आबद्धकर होते हैं और लोक

प्रतिनिधियों का, जो विधान सभा के लिए निर्वाचित किए गए हैं, सत्यनिष्ठ कर्तव्य होता है कि वे संविधान की मर्यादा बनाए रखें । अतः सरकार बनाने के लिए मुख्यमंत्री की नियुक्ति के विषय में उनकी ओर से कोई भी कार्य, जो संविधान के प्रतिकूल हो, राज्यपाल द्वारा किए जाने की कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए । अतः मेरी सुविचारित राय में, इस संबंध में श्री वेणुगोपाल की दलीलों को मान्य नहीं ठहराया जा सकता ।

70. प्रत्यर्थियों की ओर से जो दलीलें दी गईं उनमें से एक दलील संविधान के अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल की उन्मुक्ति के संबंध में थी । उक्त दलीलों का मूल यह है कि चूंकि किसी राज्य का राज्यपाल अपने पद की शक्तियों का प्रयोग या कर्तव्यों का पालन करते हुए या उन शक्तियों का प्रयोग करते हुए और कर्तव्यों का पालन करते हुए उसके द्वारा किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं होता और चूंकि अनुच्छेद 164 के अधीन राज्यपाल की शक्तियों के प्रयोग में प्रत्यर्थी सं.2 को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया गया है, अतः राज्यपाल द्वारा की गई उक्त नियुक्ति और विवेकाधिकार का प्रयोग चुनौती दिए जाने से उन्मुक्त है और उसका न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता। प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल की दलीलें इस आधार पर भी आधारित हैं कि ऐसी किसी नियुक्ति की वैधता के बारे में न्यायालय द्वारा कोई विचार किया जाना अनुज्ञेय नहीं है क्योंकि यह एक राजनैतिक गठजोड़ होता है । इस संबंध में इस न्यायालय द्वारा **आर.के.जैन** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में किए गए विनिश्चय का अवलंब लिया गया है । आरंभ में ही, यह कहना उचित होगा कि अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल को दी गई उन्मुक्ति निश्चित रूप से राज्यपाल द्वारा नियुक्त व्यक्ति को उपलब्ध नहीं है । वर्तमान कार्यवाहियों में, इन प्रकथनों पर अधिकार पृच्छा (क्वो वारंटो) जारी करने की प्रार्थना की गई है कि प्रत्यर्थी सं.2, जो कि राज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जाने पर अनधिकृत रूप से उक्त पद धारण किए हुए है, मुख्यमंत्री का लोक पद अनधिकृत रूप से ग्रहण करने के लिए सांविधानिक रूप से निरर्हित था । वास्तव में, राज्यपाल को इन कार्यवाहियों में प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार नहीं बनाया गया है । **आर.के.जैन** बनाम **भारत संघ**[1] वाले उक्त मामले में इस न्यायालय द्वारा पैरा 73 में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन इस संबंध में है कि क्या पदधारी के पास नियुक्ति संबंधी अर्हता थी और क्या वह रीति जिसमें नियुक्ति की गई थी और अपनाई गई वह प्रक्रिया ऋजु, न्यायोचित और युक्तियुक्त थी । उक्त निर्णय के पैरा 70 में यह और कथन किया गया है कि निश्चित रूप से विधिसम्मत शासन द्वारा शासित लोकतंत्र में पूर्ण विवेकाधिकार का स्वीकार्य आधार केवल न्यायालय होने चाहिएं । न्यायिक पुनर्विलोकन भारतीय सांविधानिक स्कीम का आधारभूत और अनिवार्य तत्व है जोकि न्यायपालिका को सौंपा गया है । विधिसम्मत शासन का सार यह है कि राज्य द्वारा, चाहे वह विधायिका हो या कार्यपालिका या कोई अन्य प्राधिकरण, शक्ति का प्रयोग सांविधानिक परिसीमा के अंतर्गत किया जाना चाहिए और यदि कार्यपालिका द्वारा ऐसी कोई पद्धति अपनाई जाती है, जो सांविधानिक परिसीमाओं के अतिक्रमण में है, तो उसकी न्यायालयों द्वारा समीक्षा की जा सकती है । इस न्यायालय द्वारा **एस.आर. बोम्मई** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि मंत्रिपरिषद् की, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है, सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है । यद्यपि माननीय न्यायमूर्ति अहमदी की भी, जैसे कि वे उस समय थे, यह राय थी कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा विनिश्चय किया जाना न्यायालय के विचार योग्य नहीं है, तथापि उनका यह दृढ़ मत था कि राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है । माननीय न्यायमूर्ति श्री वर्मा और न्यायमूर्ति श्री योगेश्वर दयाल ने यह अभिनिर्धारित किया कि इस बात का कोई विवाद नहीं है कि अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है । इसी प्रकार का मत माननीय न्यायमूर्ति श्री सावंत तथा न्यायमूर्ति श्री कुलदीप सिंह और न्यायमूर्ति श्री पांडियन का भी था, जिसमें माननीय न्यायमूर्तिगण ने यह कथन किया कि राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356(1) के अधीन उद्घोषणा जारी करने संबंधी शक्ति का प्रयोग कम से कम उस बात की

[1] (1993)4 एस. सी. सी. 119.

[2] (1994)3 एस. सी. सी. 1.

समीक्षा करने की सीमा तक न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है कि उद्घोषणा के जारी किए जाने से पूर्व शर्तों को पूरा किया गया है अथवा नहीं । माननीय न्यायमूर्ति श्री रामस्वामी के अनुसार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की कार्रवाई एक सांविधानिक कृत्य है और वह न्यायिक पुनर्विलोकन के अध्यधीन है और माननीय न्यायमूर्ति के अनुसार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की सीमा, परिधि और शक्ति से संबंधित प्रश्न यद्यपि राजनैतिक गठजोड़ का प्रश्न है, तथापि उसे स्वतः ही न्यायिक पुर्विलोकन से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती । माननीय न्यायमूर्ति श्री जीवनरेड्डी और न्यायमूर्ति श्री अग्रवाल के अनुसार अनुच्छेद 356(1) के अधीन शक्ति एक सशर्त शक्ति है और न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग करने में न्यायालय इस बात की परीक्षा करने का हकदार है कि शर्त का पालन किया गया है अथवा नहीं । किन्तु प्रस्तुत मामले में, जब अधिकार पृच्छा (क्वो वारंटो) की रिट जारी किए जाने संबंधी आवेदन की परीक्षा की जा रही हो, तब वे राज्यपाल नहीं हैं, जिन्हें कि न्यायालय के प्रति जवाबदेह बनाया जा रहा है, बल्कि वह नियुक्त व्यक्ति-प्रत्यर्थी सं.2 है, जो इस बात का समाधान करने के लिए कर्तव्यबद्ध है कि लोक पद को अनधिकृत रूप से ग्रहण नहीं किया गया है । अधिकार पृच्छा (की रिट) किसी व्यक्ति द्वारा लोक पद का अनधिकृत ग्रहण किए जाने से जनसाधारण का बचाव करती है और न्यायालय द्वारा ऐसी कोई रिट जारी किए जाने से पूर्व जिन बातों का समाधान किया जाना होता है वे ये हैं कि प्रश्नगत पद संविधान द्वारा सृजित लोक पद हो और वह व्यक्ति, जो उस पद को ग्रहण करने के लिए विधिक रूप से अर्हित नहीं है, संविधान और (संबद्ध) विधि अर्थात् लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के उपबंधों का स्पष्ट उल्लंघन करते हुए उस पद को ग्रहण किए हुए हो। यदि न्यायालय का अंततोगत्वा यह निष्कर्ष है कि प्रत्यर्थी सं. 2 संविधान के अधीन मुख्यमंत्री का लोक पद ग्रहण करने के लिए निरर्हित है, जैसा कि पहले अभिनिर्धारित किया जा चुका है, तो अनुच्छेद 361 के अधीन राज्यपाल की उन्मुक्ति अधिकार पृच्छा (क्वो वारंटो) की रिट जारी किए जाने में वर्जना के रूप में उसमें आड़े नहीं आ सकती । प्रस्तुत मामले में राज्य सरकार ने यह सकारात्मक पक्ष अपनाया है कि प्रत्यर्थी सं.2 को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने में सांविधानिक उपबंधों का अथवा विधि का कोई अतिक्रमण नहीं हुआ है, उक्त पक्ष की सत्यता ही संवीक्षा की विषय वस्तु है।

71. मैं यहां **लुकास** बनाम **कोलोराडो जनरल असेम्बली**[1] वाले मामले में यूनाइटेड स्टेट्स सुप्रीम कोर्ट की कुछ मताभिव्यक्तियों को उद्धृत करना चाहता हूं । पूर्वोक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि "स्पष्टतया, यह तथ्य कि किसी लोकप्रिय जनमत संग्रह में प्रभाजन योजना अपनाई गई है, उसकी सांविधानिकता को मान्य ठहराने अथवा साम्यापूर्ण न्यायालय को कार्य करने से इनकार करने की बाबत उत्प्रेरित करने के लिए पर्याप्त नहीं है ।" यह और अभिनिर्धारित किया गया कि "सांविधानिक अधिकारों की संरक्षा की मांग राजकीय रूप से अथवा समीचीन रूप से नहीं की जानी चाहिए और यद्यपि निर्वाचक मंडल के भारी मतदान द्वारा किसी सांविधानिक उपबंध के अधिनियमित किए जाने का तथ्य विराम लगाता है और अवरोध पैदा करता है तथापि हम, अपनी शपथ के सम्मान में, अधिकारों के स्पष्ट अतिलंघन को देखते हुए ऐसे विधान को मान्य नहीं ठहरा सकते । तर्क रूप में यह बिलकुल ही स्पष्ट है कि सांविधानिक विधि बहुमत की विषयवस्तु नहीं है । निस्संदेह, चौदहवें संशोधन के संपूर्ण सिद्धांत से यह स्पष्ट होता है कि निजी अधिकारों को ही बहुमत की इच्छा के विरुद्ध संरक्षित किया जाना चाहिए ।" उसमें जो कुछ कहा गया है वह समुचित रूप से ऐसे मामले में लागू किया जाना चाहिए जहां कि संविधान सर्वोच्च दस्तावेज हो जिससे भारत के लोग और साथ ही सभी सांविधानिक प्राधिकारी, जिनके अंतर्गत राज्यपाल भी है, आबद्धकर हों और इसीलिए यदि प्रत्यर्थी सं.2 के बारे में यह पाया जाता है कि उसे सांविधानिक प्रतिरोध और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की सुसंगत विधि के अधीन प्रतिषेध के प्रतिकूल नियुक्त गया किया है तो न्यायालय पर अधिकार-पृच्छा (क्वो वारंटो) की रिट जारी करने के लिए कोई रोक नहीं होनी चाहिए और राज्यपाल की तथाकथित उन्मुक्ति वर्जना के रूप में आड़े नहीं आएगी ।

72. तमिलनाडु राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री पी.पी. राव के अनुसार, संसदीय लोकतंत्र स्वीकार्य रूप से, संविधान का मूलभूत तत्व है । संविधान के अधीन यह प्रत्येक कृत्यकारी का, जिसके

[1] 377 यू. एस. 713, 12 एल. एडी. 2डी. 632, 84 एस. सीटी. 1472.

अंतर्गत राज्यपाल भी है, और न्यायपालिका का कर्तव्य है कि वह किसी राज्य की विधान सभा के निर्वाचन में लोगों की यथा परिलक्षित इच्छा को प्रभावी रूप दे । जब एक बार मतदाता किसी राजनैतिक दल को और उसके नेता को पांच वर्ष की अवधि के लिए राज्य की सरकार चलाने के लिए अपना समादेश दे देते हैं, तो संविधान में उसके प्रतिकूल कोई अभिव्यक्त उपबंध न होने की दशा में, राज्यपाल उस विधान मंडल के दल के नेता को, जो निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना गया हो, सरकार बनाने के लिए आंमत्रित करने के लिए आबद्धकर है । श्री राव के अनुसार, संविधान में अथवा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के उपबंधों में कोई ऐसा अभिव्यक्त, सुस्पष्ट उपबंध नहीं है जो यह घोषित करता हो कि ऐसे किसी व्यक्ति को जिसे विचारण न्यायालय द्वारा किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया गया हो और दो वर्ष से अनधिक अवधि के कारावास से दंडादिष्ट किया गया हो, प्रथम अपील के लंबित रहने के दौरान मुख्यमंत्री नियुक्त नहीं किया जाएगा । ऐसी स्थिति में, राज्यपाल से यह आशा नहीं की जाती कि वह राज्य के उन लोगों के साथ, जिन्होंने सत्ता पक्ष को सत्ता में लाने के लिए मत दिया है, उलझाव की स्थिति पैदा करे और राज्य को परेशानी में डाले । इस दलील के समर्थन में इस न्यायालय की **शमशेर सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में की गई इस मताभिव्यक्ति का अवलंब लिया गया कि 'राज्य प्रमुख को राजनीति में पड़ने से बचना चाहिए'। मैं श्री राव की पूर्वोक्त दलील से सहमत होने में असमर्थ हूं क्योंकि मेरी सुविचारित राय में इस देश के लोग और विधान सभा में उनके उन निर्वाचित अभ्यर्थियों के माध्यम से, जो विधान सभा के सदस्य के रूप में चुने जाने पर किसी निरर्हित व्यक्ति को अपना नेता चुनते हैं, प्रतिबिंबित उनकी आवाज भारत के संविधान के प्रति उतनी ही अध्यधीन है जितने कि स्वयं राज्यपाल । लोकतंत्र में, सांविधानिक विधि उन मूल्यों को प्रतिबिम्बित करती है जिनसे लोग क्रमबद्ध मानव संबंधों से, विधि के अधीन व्यक्तिगत स्वतंत्रता से और संस्थाओं से जैसे कि संसद्, राजनैतिक दलों, स्वतंत्र निर्वाचन और स्वतंत्र प्रेस से जुड़े हुए हों । संविधान एक ऐसा दस्तावेज है, जिसकी एक विशेष विधिक सम्माननीयता (पवित्रता) है, जो राज्य के भीतर सरकार के ढांचे तथा उसके अंगों (कृत्यकारियों) के मूल कृत्यों को नियत करता है और उन सिद्धांतों को घोषित करता है जिनके द्वारा उन अंगों को कार्य करना चाहिए । संविधान किसी देश की पूर्ण शासन पद्धति तथा उन नियमों के संकलन के प्रति निर्देश करता है जो सरकार की स्थापना तथा उसका विनियमन करते हैं या उसको शासित करते हैं । हमारे देश में, हमारा एक लिखित संविधान है जो भारत के लोगों द्वारा स्वयं को आत्मर्पित किया गया है । उक्त संविधान का प्रमुख स्थान है । इस तथ्य के होते हुए भी हमारा एक लिखित संविधान है, समय के साथ-साथ, विभिन्न प्रकार के नियम तथा पद्धतियां विकसित हुई हैं जो बदलती परिस्थितियों के अनुसार संविधान के प्रवर्तन को व्यवस्थित करती हैं । किसी भी लिखित संविधान में वे सभी विस्तृत नियम नहीं होते जिन पर सरकार निर्भर करती हो । विधानमंडल के निर्वाचन से संबंधित नियम प्रायः लिखित संविधान में नहीं होते बल्कि वे संविधान द्वारा अधिकथित सीमाओं के अधीन विधायिका द्वारा अधिनियमित कानूनों में समाविष्ट होते हैं । संविधान का उद्‌भव किसी सरकार के उद्‌भव से भी पहले का है और सरकार या सुशासन संविधान की ही सृष्टि है । दस्तावेजी संविधान उनके विश्वास और राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है जिन्होंने इसे तैयार किया । सांविधानिक शासन का एक सिद्धांत वह है जो उसके द्वारा लोकतांत्रिक परम्पराओं में विकसित किया गया था । लिखित संविधान को जो मुख्य कृत्य समनुदिष्ट किया गया है वह है सरकार के अंगों को नियंत्रित करना । संविधान विधि में राज्य के अस्तित्व की पूर्वकल्पना की गई है और उसमें उन विधियों को सम्मलित किया गया है जो सरकार के ढांचे तथा उसके मूल अंगों के कृत्यों को और राज्यों के तथा नागरिकों के परस्पर संबंधों को विनियमित करते हैं । जहां भी लिखित संविधान है वहां उन नियमों पर, जो उसमें अंतर्विष्ट हैं, तथा उस रीति पर बल दिया जाता है जिस रीति में उच्चतर (उच्चतम) न्यायालय द्वारा सांविधानिक अधिकारिता के भीतर उनका निर्वचन किया जाता है । जहां भी लिखित संविधान है वहां सरकार के विधिक ढांचे के विभिन्न प्रकार हो सकते हैं । परिसंघीय संविधान में सरकार के कार्य दो वर्गों में बांटे जाते हैं जो सरकार के परिसंघीय अंगों को सौंपे जाते हैं और जो विभिन्न राज्यों, क्षेत्रों अथवा प्रांतों को, जो परिसंघ बनाते हैं, सौंपे जाते हैं । किन्तु सांविधानिक सीमाएं सरकार के परिसंघीय और राज्यीय अंगों, दोनों, पर आबद्धकर होती हैं जो सीमाएं विधि की दृष्टि से प्रवर्तनीय

[1] [1975]1 उम. नि. प. 357 = (1974)2 एस. सी. सी. 831.

हों । सांविधानिक व्यवहार के ऐसे अनेक महत्वपूर्ण नियम, जिनका पालन प्रधानमंत्री और मंत्रियों द्वारा, विधानमंडल के सदस्यों द्वारा, न्यायाधीशों और सिविल सेवकों द्वारा किया जाता है, न तो अधिनियमों में अंतर्विष्ट हैं और न ही न्यायिक विनिश्चयों में अंतर्विष्ट हैं । किन्तु ऐसे नियमों को संविधान के रचियताओं द्वारा 'संविधान की सकारात्मक नैतिकता' के नियम के रूप में परिभाषित किया गया है और कई बार लेखक इन्हें 'संविधान के अलिखित सूत्रों' का नाम देते हैं। सांविधानिक व्यवहार के नियम, जिन्हें उनके द्वारा और उन पर आबद्धकर माना जाता है, जो संविधान को प्रवर्तन में लाते हैं किन्तु जिन्हें न तो न्यायालयों द्वारा प्रवृत्त किया जाता है और न ही संसद् के सदन के पीठासीन अधिकारियों द्वारा प्रवृत्त किया जाता है । सर आइवर जेनिंग्स ने अपनी पुस्तक 'ला एंड दि कांस्टीट्यूशन' में यह कथन किया है कि सांविधानिक कन्वेंशनों का पालन उन राजनैतिक कठिनाइयों के कारण किया जाता है जो यदि ये कन्वेंशन न हों तो उठ खड़ी हों । ये नियम उन व्यक्तियों के आचरण को विनियमित करते हैं जो लोक पद धारण किए हुए हैं और फिर भी बहुत ही पेचीदा राजनैतिक कठिनाई उस व्यक्ति के लिए संभवतः उत्पन्न हो सकती है जिसे कि उस पद से हटाने को बाध्य किया जाता है । कनाडा के सुप्रीम कोर्ट (उच्चतम न्यायालय) ने यह कथन किया कि कन्वेंशनों का मुख्य प्रयोजन यह सुनिश्चित करना होता है कि संविधान का विधिक ढांचा तत्समय प्रचलित सांविधानिक मूल्यों के अनुसार प्रवर्तित हो [देखिए (1982) 125 डी. एल. आर. (तीसरा) 1, 84] । किन्तु जहां किसी देश का ऐसा लिखित संविधान हो, जो मूलभूत विधि की श्रेणी में आता है, वहां उन विधायी या कार्यपालक कार्रवाइयों को, जो संविधान के विरुद्ध हों, असांविधानिक और इसी प्रकार अवैध भी ठहराया जाना चाहिए। सरकार की मुख्य पद्धति को केवल विधिक और पारम्परिक नियमों के निबंधनानुसार स्पष्ट नहीं किया जा सकता । यह अनिवार्यतः उस राजनैतिक आधार पर निर्भर करता है जो उसमें अंतर्निहित है, विशेष रूप से उस दल पद्धति के आधार पर निर्भर करता है जिसके आस-पास राजनैतिक प्रणाली आधारित है। वर्तमान राजनैतिक दलों और निर्वाचन पद्धति में यह स्वीकृत है कि साधारण निर्वाचन के बाद, राज्य विधान मंडल या संसद् में अधिक संख्या में स्थान प्राप्त करने वाला दल सरकार बनाएगा । संविधान का यही आधारभूत तत्व है और इसे ही अनुज्ञात किया गया है । किन्तु सरकार बनाने के विषय में, यदि उक्त बहुमत पाने वाला दल ऐसे किसी व्यक्ति को अपना नेता चुनता है, जिसे देश के संविधान और विधियों द्वारा उसे विधान सभा का सदस्य चुने जाने के लिए निरर्हित किया गया है, तो बहुमत से निर्वाचित सदस्यों की ऐसी कार्रवाई मतदाताओं (निर्वाचक मंडल) और संविधान के प्रति विश्वासघात होगी, जिसके प्रति वे उत्तरदायी हैं । ऐसे मामले में, जनता की तथाकथित इच्छा को असांविधानिक ठहराया जाना चाहिए और किसी भी प्रकार से उसे सहन नहीं किया जा सकता और न ही किया जाएगा । जब कोई विधायी सर्वोच्चता और जनता की इच्छा की बात करता है तो सिद्धांत में यह नियम भी अनिवार्यतः होना चाहिए जो कि विधानमंडल और न्यायालय के बीच के विधिक संबंध को शासित करता है किन्तु यूनाइटेड किंग्डम में की जिस विधायी सर्वोच्चता की बात की जाती है वह हमारे देश में लागू नहीं होती, जिसका कि लिखित संविधान है जिसमें विधानमंडल या संसद् की ऐसी सर्वोच्चता के विस्तार को सीमित किया गया है । दूसरे शब्दों में, देश की जनता, सरकार के अंग, विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका सभी संविधान से आबद्धकर हैं, जिसे मान्य न्यायमूर्ति श्री भगवती ने **मिनर्वा मिल्स लिमिटेड** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में देश की सर्वोच्च विधि बताया है और कोई भी संविधान से ऊपर या बढ़कर नहीं है । जब नयायालय को संविधान का निर्वचन करने का कार्य दिया गया है और जब न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि संविधान के अधीन स्पष्टतया अप्राधिकृत शक्ति का प्रयोग किया गया है तो न्यायालय का यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वह उसमें हस्तक्षेप करे । यूनाइटेड किंग्डम और उन देशों के बीच, जिनका कि, जैसे कि भारत, लिखित संविधान है, विधायी सर्वोच्चता के सिद्धांत में विभेद है। संविधान द्वारा विधान मंडल पर सीमाएं अधिरोपित की गई हैं और साधारण न्यायालय या सांविधानिक न्यायालय को इस बात का विनिश्चय करने के कृत्य सौंपे गए हैं कि विधान मंडल की कार्रवाइयां संविधान के अनुसार हैं अथवा नहीं । इस स्थिति के होते हुए, किसी राजनैतिक दल के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत द्वारा सरकार चलाने के लिए अपना नेता चुनने संबंधी की गई

[1] [1981] 3 उम. नि. प. 146 = (1980) 3 एस. सी. सी. 625.

कार्रवाई यदि संविधान और देश की विधियों के प्रतिकूल पाई जाती हैं तो ऐसे असांविधानिक विनिश्चय पर संविधान और वे विधियां अवश्य ही अभिभावी होनी चाहिएं और श्री राव की इस दलील को कि लोगों की भावना अभिभावी होनी चाहिए स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए । किसी भी लोकतांत्रिक समाज में, विधि का पालन करने के महत्वपूर्ण कारण हैं जो अन्य प्रकार की सरकारों में नहीं होते । हमारी राजनैतिक पद्धति अभी भी पूर्ण नहीं है और कई विधायी सुधार करने की गुंजाइश सदैव बनी रहती है । किन्तु आधुनिक समाज में, जीवन-यापन में अधिकांश नागरिकों में अधिकतर समय तक विधियों का पालन करने की इच्छा होने की अपेक्षा की जाती है, भले ही व्यक्तिगत रूप से वे उनसे सहमत न हों ।

73. पूर्वोक्त विनिश्चयाधार में, और उन निरर्हताओं के संबंध में, जिनसे प्रत्यर्थी सं॰2 ग्रस्त हो गया है और जो उसे विधान सभा का सदस्य चुने जाने के लिए निवारित करती हैं, पहले से निकाले गए निष्कर्षों को देखते हुए, उसे इस सिद्धांत पर कि विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत द्वारा उसे अपना नेता चुना गया है और वह जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है, राज्य का मुख्यमंत्री बने रहने की अनुज्ञा देना, भले ही वह थोड़ी अवधि के लिए ही हो, सांविधानिक विधियों का घोर अतिक्रमण होगा ।

74. एक और बात जिसकी मैं अवेक्षा करना चाहूंगा वह है उन लोगों की जागरूकता, जिन्होंने न्यायालय में ऐसी लोक हित याचिका फाइल की है। श्री दीवान ने अपनी दलीलों के दौरान "राजनीति का अपराधीकरण" विषय पर और निर्वाचन प्रक्रिया में अपराधियों के अभ्यर्थी के रूप में भाग लेने के विषय में कुछ दलीलें प्रस्तुत कीं और उस संबंध में, श्री दीवान ने भारत निर्वाचन आयोग के तारीख 28 अगस्त, 1997 के आदेश की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। किन्तु हमारे समक्ष जो अनिवार्य मुद्दा है उसके हल के लिए हमारे लिए उस मामले में पड़ना आवश्यक नहीं था इसीलिए हमने उस विषय पर गहराई से जांच नहीं की । पायोनियर में प्रकाशित "जिम्मेदारी किसकी" विषय पर भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने अपने एक भाषण में, हमारी लोकतांत्रिक शासन पद्धति में इस समय जो गंदगी व्याप्त है उसे साफ करने के लिए क्रमबद्ध रूप में परिवर्तन लाने संबंधी सभी संभव विकल्पों पर राष्ट्रीय बहस का आह्वान किया । उन्होंने इस बात पर अपना असंतोष व्यक्त किया कि न तो संसद और न ही राज्यों की विधान सभाएं उन विधायी कृत्यों को, जिनको करना उनका मुख्य कर्तव्य है, सक्षमतापूर्वक या प्रतिबद्धता से कर रही हैं । श्री वाजपेयी के मतानुसार, कुछ को छोड़कर, जो इन लोकतांत्रिक संस्थाओं के लिए निर्वाचित होते हैं, न तो विधिवत् रूप से अथवा साधारणतया विधि बनाने में प्रशिक्षित होते हैं और न ही उनमें अपनी वृत्ति में आवश्यक ज्ञान और सक्षमता विकसित करने के प्रति कोई रूचि ही प्रतीत होती है । उन्होंने आगे यह उपदर्शित किया कि समाज के वे व्यक्ति, जो सामान्यतया निर्वाचक मंडल की सेवा करने और विधायी कृत्यों को करने के इच्छुक होते हैं, आज की निर्वाचन पद्धति में ऐसा करना बहुत ही कठिन महसूस कर रहे हैं और निर्वाचन पद्धति को लगभग पूर्णतया धन शक्ति, बाहुबल तथा जाति और समुदाय की वोट बैंक की विचारणाओं द्वारा विध्वंसित कर दिया गया है । श्री वाजपेयी ने यह भी उपदर्शित किया कि इसीलिए शासकीय ढांचे में व्याप्त भ्रष्टाचार ने निर्वाचक लोकतंत्र का जो मूल तत्व है, उसे नष्ट कर दिया है । उनके अनुसार, शासकीय ढांचे में भ्रष्टाचार की गुंजाइश की निश्चितता ने अवसरवाद और राजनैतिक दलों में अनैतिकता को बढ़ावा दिया है जिसके कारण वे किसी को भी अपनी इच्छानुसार अपना लेते हैं और इच्छानुसार ही दूसरे को छोड़ देते हैं, प्रायः लोकप्रिय जनादेश के बिना भी अवसरवादी संबंध और गठबंधन बनाने की कोशिश करते रहते हैं । फिर भी वे अंतर्निहित योजनाबद्ध त्रुटियों के कारण सत्ता को हथिया लेते हैं और उसमें बने रहते हैं । उन्होंने यह और कहा कि जातिवाद, भ्रष्टाचार और राजनीतिकता ने हमारे सिविल सेवा ढांचे की अखंडता और क्षमता को भी समाप्त कर दिया है । राजनैतिक दलों के चुनाव घोषणा पत्र, उनकी नीतियों, उनके कार्यक्रमों का, जवाबदेही के अभाव में, वर्तमान शासन पद्धति में कोई अर्थ (महत्व) नहीं रह गया है । श्री वेणुगोपाल और श्री राव दोनों ही के द्वारा इस आधार पर अनेक दलीलें दी गईं कि जहां तक लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के अधीन आने वाले अपराध का संबंध है, मात्र दोषसिद्धि ही किसी व्यक्ति को स्वतः निरर्हित नहीं बनाती, बल्कि दोषसिद्धि तथा दो वर्ष से अनधिक का दंडादेश किसी व्यक्ति को निरर्हित बनाता है, इसीलिए ऐसे मामले में, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अधीन आने वाले अपराध के लिए

दोषसिद्ध ठहराए जाने पर भी कोई व्यक्ति उस दशा में निरर्हित नहीं होता, यदि विचारण करने वाला न्यायाधीश एक वर्ष की अवधि के कारावास का दंड अधिरोपित करता है, जो कि किसी व्यक्ति को सदस्य के रूप में चुने जाने के अथवा सदस्य बने रहने की बाबत निरर्हित करने के लिए भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 13(2) के अधीन न्यूनतम कारावास है और इस प्रकार दो वर्ष से कम है जोकि लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(3) के अधीन अपेक्षित न्यूनतम कारावास है । जैसा कि न्या. बंधु श्री भरूचा के निर्णय में विवेचन किया गया है, धारा 8 की विभिन्न उपधाराओं में भिन्न-भिन्न दंड देने की विधिमान्यता को इस न्यायालय द्वारा **रघुबीर सिंह** बनाम **सुरजीत सिंह**[1] वाले मामले में पहले ही मान्य ठहराया जा चुका है । किन्तु अति व्याप्त भ्रष्टाचार को ध्यान में रखते हुए, जिसने कि हमारे निर्वाचक लोकतंत्र के मूल तत्व को ही नष्ट कर दिया है, संसद के लिए भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अधीन दोषसिद्धि को, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8(1) के अधीन वर्णित निरर्हता के रूप में, लाने के प्रश्न पर विचार करने का उपयुक्त समय है, जिससे कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के उपबंधों के अधीन दंडनीय किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध ठहराए जाने पर किसी व्यक्ति को विधान सभा या संसद् का सदस्य चुने जाने या बने रहने से निरर्हित किया जा सके । आशा और विश्वास है कि संसद् में वे हमारे प्रतिनिधि इस प्रश्न पर सम्यक् विचार करेंगे।

75.इन रिट याचिकाओं, विशेष इजाज़त याचिका सिविल अपील और अंतरित मामलों का न्या. बंधु श्री भरूचा के निर्णय में अंतर्विष्ट निदेशों के निबंधनों के अनुसार निपटारा किया जाता है ।

न्या. ब्रजेश कुमार –

76. इजाजत दी गई ।

77. मुझे न्या. बंधु श्री भरुचा द्वारा तैयार किए गए निर्णय पर विशद विचार का सुलाभ प्राप्त हुआ । मैं उस निर्णय से सादर सहमत हूं । ऐसा करते समय, मैं इसके अतिरिक्त केवल कुछ विषय- बिंदुओं पर संक्षेप में अपने विचार अभिलिखित करने का प्रस्ताव करता हूं क्योंकि ऐसे विषय बिंदुओं पर कुछ विस्तृत और जोरदार दलीलें दी गई हैं । निस्संदेह ये विषय बिंदु भी महत्वपूर्ण हैं ।

78. अन्य विषय बिंदुओं में, प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 की राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री के रूप में की गई नियुक्ति को संविधान के अनुच्छेद 361 के उपबंधों को देखते हुए, जिसमें यह उपबंध है कि राज्यपाल अपने पद की शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करने के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं होगा, चुनौती नहीं दी जा सकती । यह भी निवेदन किया गया था कि मुख्यमंत्री को नियुक्त करने में राज्यपाल ने अपनी विवेक शक्तियों का प्रयोग किया है अतः उनकी कार्रवाई न्यायालय में विचारणीय नहीं है । हालांकि एक अन्य निवेदन यह है कि राज्यपाल ने प्रत्यर्थी सं.2 को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने में केवल बहुमत प्राप्त दल के विनिश्चय को कार्यान्वित किया है अर्थात् उन्होंने केवल लोगों की भावना को प्रभावी रूप दिया है।

79. जहां तक इसका संबंध संविधान के अनुच्छेद 361 से है, अर्थात् यह कि राज्यपाल, राज्यपाल के रूप में अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं होगा, आरंभ में ही यह उपदर्शित किया जा सकता है कि हम प्रत्यर्थी सं.2 के विरुद्ध, जो याची के मतानुसार राज्य के मुख्यमंत्री का लोक पद धारण करने से निरर्हताग्रस्त है, अधिकार-पृच्छा (क्वो वारंटो) की रिट जारी करने संबंधी प्रार्थना पर विचार कर रहे हैं । अधिकार-पृच्छा की रिट वह रिट है जो वर्णनकर्ता के अनुसार उस व्यक्ति के विरुद्ध होती है, जो लोक पद धारण करने का हकदार नहीं होता और केवल पद का अनुचित अधिकार प्राप्त करने वाला होता है । उस व्यक्ति से, जिसके विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की रिट जारी की जाती है, यह दर्शित करने की अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति किस प्राधिकार से उस पद को धारण करने का हकदार है । चुनौती कई आधारों पर दी जा सकती है, जिसके अंतर्गत वे आधार भी हैं कि पद पर कब्जा करने वाला व्यक्ति अपेक्षित अर्हताएं पूरी नहीं करता अथवा ऐसी किसी

---

[1] (1994) सप्ली. 3 एस. सी. सी. 162.

निरर्हता से ग्रस्त है जो उसे ऐसा पद धारण करने से विवर्जित करती है । अतः अधिकार-पृच्छा संबंधी कार्यवाहियों में कार्रवाई किए जाने की प्रकृत्ति के बारे में और उसके मूल रूप के बारे में अनुमान करने के लिए, जैसा कि प्रायः किया जाता है, वर्ड्स एंड फ्रेसेज़ परमानेंट एडीशन, जिल्द 35ए, पृष्ठ 648 से उद्धरित करना फायदाप्रद होगा । यह इस प्रकार है :–

"अधिकार-पृच्छा (क्वो वारंटो) संबंधी आरंभिक कामन-लॉ रिट क्राउन के वाद में एक सिविल रिट थी, और किसी दांडिक अभियोजन के बारे में नहीं थी । यह राजा द्वारा उस व्यक्ति के विरुद्ध, जिसने कि मताधिकारों का या दायित्वों का अनुचित अधिकार ग्रहण किया हो या दावा किया हो, यह जांच करने के लिए कि किस अधिकार से उसने उनका दावा किया है, अधिकार की प्रकृति की रिट थी तथापि, शताब्दियों पूर्व यह रिट इंग्लैंड में विवादों में घिर गई और उसका स्थान अधिकार-पृच्छा की प्रकृति की सूचना ने ले लिया, जो मूलतः अभियोजन और साथ ही मताधिकार का अनुचित अधिकार ग्रहण करने के लिए अनुचित अधिकार ग्रहण करने वाले व्यक्ति को जुर्माने से दंडित करने की एक दांडिक पद्धति थी, जिससे कि उसे बाहर किया जा सके अथवा उन अधिकारों को क्राउन के लिए अभिगृहीत किया जा सके । तथापि, हमारी क्रांति से बहुत समय पूर्व दांडिक कार्यवाही के रूप में उसका पूर्ण स्वरूप, सिवाय उसके रूप के, ही समाप्त हो गया और उसका केवल सिविल अधिकारों, मताधिकार के अभिग्रहण या सदोष कब्जाधारी को बाहर करने संबंधी विचारण के प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाता था, जुर्माना केवल नाममात्र का होता था, और उसका, किसी विशेष विधान के न होने पर, संघ के अनेक राज्यों में सदैव वही स्वरूप बना रहा, इसीलिए यह केवल एक सिविल उपचार है । ऐम्स **बनाम** कांसास राज्य, 4 एस. सीटी. 437, 442, 111, यू. एस. 449, 28 एल. एडी., 482, पीपुल **बनाम** दैशावे एसोसिएशन, 24 पी-277, 278, 84, कैल. 114."

80. वर्ड्स एंड फ्रेसेज़ परमानेंट एडीशन की इसी जिल्द के पृष्ठ 647 पर इस प्रकार वर्णन किया गया है :–

"अधिकार-पृच्छा" (क्वो वारंटो) परमादेश (मैंडेमस) या व्यादेश (इन्जन्क्शन) की प्रतिस्थानी नहीं है और न ही गलती की किसी अपील रिट की प्रतिस्थानी है और इसका प्रयोग उस शक्ति के, जो विधिपूर्वक ग्रहण की गई है, अनुचित प्रयोग को रोकने के लिए नहीं किया जाना चाहिए और इसका प्रयोजन केवल उस अधिकारी या निगम या व्यक्तियों को जो तात्पर्यित रूप से उस रूप में कार्य करते हैं, ऐसी किसी शक्ति का, जो उनको प्राप्त नहीं है, अनुचित अधिकार करने से रोकने के लिए है । स्टेट एक्स इन्फ. मैक्रिक्ट्रिक **बनाम** मरफी 148, एस. डब्ल्यू. 2 डी 527, 529, 530, 347, एमओ 484 (बल देने के लिए रेखांकन हमारी ओर से)।

अधिकार-पृच्छा की प्रकृति में सूचना ऐसे किसी अधिकारी द्वारा, जिसके संबंध में यह लागू हो सकती है, पदीय कर्तव्यों का पालन करने का समादेश नहीं देती क्योंकि उसे उस रूप में उस अधिकारी के प्रति निर्दिष्ट नहीं किया जाता बल्कि उस व्यक्ति के प्रति निर्दिष्ट किया जाता है जो पद को धारण किए हुए है अथवा मताधिकार का प्रयोग कर रहा है, और यह पदीय कर्तव्यों को आरोपित करने या विहित करने के प्रयोजन के लिए नहीं है बल्कि केवल यह सुनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए है कि वह उचित रूप में दावाकृत अधिकारों का प्रयोग करने के लिए हकदार है या नहीं । स्टेट एक्स.इन्फ वाल्श **बनाम** थैचर, 102 एस.डब्ल्यू. 2डी-937, 938, 340 एमओ. 865 (बल देने के लिए रेखांकन हमारी ओर से) ।

81. हाल्सबरीज़ लाज आफ इंग्लैंड, चौथा संस्करण, पुनः प्रकाशन, जिल्द 1, पैरा 265, पृष्ठ 368 में इस प्रकार वर्णन किया गया :

"266. **साधारण रूप में ?** अधिकार-पृच्छा की प्रकृति की सूचना अधिकार-पृच्छा की आत्यंतिक रिट का स्थान ले लेती है जो उस व्यक्ति के विरुद्ध, जिसने किसी पद मताधिकार या स्वतंत्रता का दावा किया है अथवा अनुचित अधिकार ग्रहण किया है यह जांच करने के लिए होती है कि किस प्राधिकार से उसने अपने दावे को प्रस्तुत किया है, जिससे कि पद या मताधिकार संबंधी उसका क्या अधिकार है, उसका अवधारण किया

जा सके ।"

82. उपरोक्त के अतिरिक्त, अनेक उच्च न्यायालयों और इस न्यायालय ने भी यह मत अपनाया कि अधिकार-पृच्छा, कि रिट उस व्यक्ति के विरुद्ध होती है जिससे कि प्रश्नगत पद पर उसके विधिक अधिकार को सिद्ध करने की अपेक्षा की जाती है । संदर्भ :

ए. आई. आर. 1952 ट्रावनकोर कोचीन 66, (1944) 48 कलकत्ता वीकली नोट्स 766, ए. आई. आर. 1977 एन. ओ. सी. 246, ए. आई. आर. 1952 नागपुर 352, ए. आई. आर. 1945 कलकत्ता 249 और ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 491.

ऊपर यथाउपदर्शित विधिक स्थिति को देखते हुए नियुक्ति प्राधिकारी को इन कार्यवाहियों में प्रत्यर्थी के रूप में पक्षकार बनाना आवश्यक नहीं है । प्रस्तुत मामले में, राज्यपाल को न्यायालय के प्रति उत्तरदायी बनाना आवश्यक नहीं है । तथापि, संविधान के अनुच्छेद 361 द्वारा ऐसे पद के धारक को, जिसको कि वह विधि के अधीन धारण करने का हकदार नहीं है, प्रतिनिधिक रूप से कोई संरक्षण या उन्मुक्ति नहीं दी गई है । यदि लोकपद धारण करने के विधिमान्य प्राधिकार को सिद्ध करने के लिए कहे जाने पर, कोई व्यक्ति ऐसा करने में असफल रहता है तो ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध अधिकार-पृच्छा की रिट जारी की जाएगी । यह कहने की कोई प्रतिरक्षा (बचाव) नहीं होगी कि नियुक्ति ऐसे सक्षम प्राधिकारी द्वारा की गई है जो विधि के अधीन अपने पद के कर्तव्यों के पालन में किए गए किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं है । विधिक अपेक्षाएं और लोकपद धारण करने संबंधी आवश्यक अर्हताएं पूरी करने के प्रश्न पर, इस तथ्य का सहारा लिए बिना कि किसने नियुक्ति की थी और वह रीति जिसमें कि नियुक्ति की गई थी, कार्यवाहियों के अंतर्गत विचार किया जाएगा । अतः संविधान का अनुच्छेद 361 राज्यपाल द्वारा लोकपद धारण के लिए नियुक्त किए गए ऐसे किसी व्यक्ति की, जो याची/वर्णनकर्ता के अनुसार पद पर अनुचित रूप से अधिकार किए हुए है, हकदारी के प्रश्न की जांच करने में कोई अड़चन नहीं है ।

83. अन्य प्रश्न जिस पर जोरदार रूप से बल दिया गया था वह यह था कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति करने में, राज्यपाल अपनी विवेक शक्तियों का प्रयोग करता है । इस संबंध में, प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह उपदर्शित करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 163 के प्रति निर्देश किया कि जहां इस संविधान के अधीन राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन अपने विवेकानुसार करना होता है, वहां के सिवाय राज्यपाल को अपने कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा । तत्पश्चात् यह उपदर्शित करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 164 के प्रति निर्देश किया गया कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल, मुख्यमंत्री की सलाह पर करेगा । यह निवेदन किया गया है कि राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति उस समय करता है जब उसे सहायता या सलाह देने के लिए कोई मंत्रि-परिषद् न हो । राज्यपाल अपने विवेक से नियुक्ति करता है । प्रत्यर्थी सं. 2 की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि बहुमत वाले दल ने संकल्प द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 को अपना नेता चुना था । तदनुसार, प्रत्यर्थी सं.2 को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था । यह, बिना किसी संदिग्धता के, सुस्पष्ट रूप से निवेदन किया गया है कि राज्यपाल ऐसे किसी भी व्यक्ति को, जिसे बहुमत वाले दल द्वारा चुना गया है, मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने के लिए आबद्धकर है । विद्वान् काउन्सेल की यह दलील उनकी पूर्व में की गई इस दलील के ही विरुद्ध है कि राज्यपाल अपनी विवेक शक्ति का प्रयोग करते हुए मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है । यदि यह सही है कि राज्यपाल बहुमत वाले दल के विनिश्चय से आबद्धकर है तो इस मामले में राज्यपाल के स्वविवेक का तत्व लुप्त हो जाता है । सांविधानिक उपबंधों की स्कीम में राज्यपाल को मंत्रि-परिषद की, जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है, सहायता और सलाह पर कार्य करना होता है । वह तदनुसार कार्य करने के लिए आबद्धकर है । जो अन्य कृत्य, राज्यपाल करता है, जिनमें कि मंत्रि-परिषद् की सहायता और सलाह आवश्यक नहीं होती, वह अपने विवेकानुसार करता है । वह किसी अन्य अभिकरण के विनिश्चय/सलाह से आबद्धकर नहीं होता । निस्संदेह यह सत्य है कि लिखित संविधान में भी प्रत्येक बात के लिए विस्तारपूर्वक उपबंध करना संभव नहीं होता । कतिपय मामलों के संबंध में पद्धतियां और

कन्वेंशन अवश्य विकसित हो जाती हैं । इसी प्रकार लोकतंत्र कार्य करने के योग्य (व्यावहारिक) बनता है । यह भी सत्य है कि मुख्यमंत्री की नियुक्ति के संबंध में बहुमत वाले दल के नेता के बारे में उसके विकल्प को सामान्यतयां स्वीकार कर लिया जाता है और ऐसा ठीक भी है । किन्तु यह दलील कि सभी संभाव्य दशाओं में, चाहे वे कुछ भी हों, राज्यपाल बहुमत वाले दल के विनिश्चय से आबद्धकर होता-है, कोई सही प्रतिपादना नहीं है । राज्यपाल को उसके अपने पद के कर्तव्यों के पालन में विवेकाधिकार के तत्व से, यदि ऐसी अत्यावश्यकता है कि उसका प्रयोग किया जाना आवश्यक है, पूर्णतया वंचित नहीं किया जा सकता । लोगों की भावना को कार्यान्वित करने के बारे में दलील ऊपर उपदर्शित संदर्भ में भ्रमित धारणा पर आधारित है और गलत रूप से दी गई है ।

रिट याचिका का तदनुसार निपटारा किया गया ।

ज./ला.

[2002] 3 उम. नि. प. 275

रवि सिंघल और अन्य

बनाम

मनाली सिंघल और एक अन्य

1 अक्तूबर, 2001

न्यायमूर्ति डी.पी. महापात्र और न्यायमूर्ति के.जी. बालकृष्णन

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 (1963 का 47)– धारा 10 और 37 — अंतरिम राहत और पारिवारिक समझौता – पारिवारिक समझौता के विनिर्दिष्ट प्रवर्तन के लिए वाद में अंतरिम राहत प्रदान करना न्यायालय का विवेकाधिकार है – ऐसे विवेकाधिकार का प्रयोग अनुचित और आधारहीन नहीं होना चाहिए – अपीलार्थी पति और प्रत्यर्थी पत्नी के बीच मतभेद होने पर उनके द्वारा पारिवारिक समझौता किया जाना – समझौते के विनिर्दिष्ट पालन के लिए प्रत्यर्थी पत्नी द्वारा वाद फाइल किए जाने पर विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा भरण-पोषण के संदाय किए जाने और पृथक् निवास, स्कूल फीस के निक्षेप के संबंध में अंतरिम आदेश पारित किया जाना – अंतरिम आदेश में हस्तक्षेप किया जाना आवश्यक नहीं है – अपीलार्थी पर पड़े वित्तीय भार पर अंतिम विनिश्चय के लम्बित रहते हुए विचारण न्यायालय द्वारा विचार किया जाना अपेक्षित है ।

प्रस्तुत मामले में, प्रथम अपीलार्थी पति है और प्रथम प्रत्यर्थी पत्नी है तथा द्वितीय प्रत्यर्थी उनकी अवयस्क पुत्री है । अपीलार्थी पति और प्रत्यर्थी पत्नी का विवाह 1989 में हुआ था तथा 1991 में उनके पुत्री पैदा हुई थी। पति-पत्नी के बीच 1994 से वैवाहिक संबंध मधुर नहीं रहे थे तथा पति-पत्नी के बीच एक पारिवारिक समझौता किया गया था जिसके अधीन पति को पत्नी और पुत्री के लिए भरण-पोषण, पुत्री की स्कूल की फीस, पृथक् निवास और कार के लिए व्यवस्था करनी थी । प्रत्यर्थी पत्नी ने पारिवारिक समझौते के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल किया था। विद्वान एकल न्यायाधीश ने अंतरिम आदेश पारित किया था जिसके अधीन पत्नी और पुत्री के भरणपोषण, पुत्री की स्कूल की फीस, पृथक् निवास इत्यादि प्रदान किए जाने का आदेश किया गया था। जिसके विरुद्ध अपीलार्थी पति द्वारा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के समक्ष अपील फाइल की गई थी जो खारिज की गई थी, जिसके विरुद्ध यह अपील फाइल की गई है। अपीलों का तदनुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह दलील दी गई है कि समझौता ज्ञापन पर अपीलार्थियों ने विशेष परिस्थितियों के अधीन हस्ताक्षर किया था और प्रथम अपीलार्थी की वित्तीय स्थिति ऐसी नहीं है कि वह करार के अधीन की अभिकथित बाध्यताओं को